कार्यप्रणाली और इतिहासलेखन

गंगा में ऊपर-नीचे जाने वाले स्टीमर पर देशी लड़के सवार होते हैं, जो पैसे के लिए नहीं बल्कि किताबों के लिए भीख मांगते हैं। - चार्ल्स ट्रेवेलियन, 1827i

भारत में अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत को एक 'औपनिवेशिक परियोजना', 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद' को लागू करने के एक उपकरण के रूप में माना जाता है, जिसका एक 'राजनीतिक एजेंडा' था और जिसके कारण अंततः 'उपनिवेशित लोगों की सांस्कृतिक अधीनता' हुई। भारतीय शिक्षा का इतिहास ऐसे सिद्धांतों से भरा पड़ा है। भारत और औपनिवेशिक दस्तावेजों में व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाने वाला 'अंग्रेजी शिक्षा' शब्द 'आधुनिक शिक्षा' को दर्शाता है। कुछ 'आधुनिक' या अंग्रेजी स्कूलों ने अंग्रेजी साहित्य, स्थानीय स्थानीय भाषा और संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में आधुनिक विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल और राजनीतिक अर्थव्यवस्था को पढ़ाया, जबकि अन्य ने स्थानीय भाषाओं के माध्यम से अंग्रेजी को दूसरी भाषा और आधुनिक पाठ्यक्रम के रूप में पढ़ाया। इन दोनों श्रेणियों के स्कूलों को औपनिवेशिक अभिलेखों में 'एंग्लो-वर्नाकुलर स्कूल' और 'अंग्रेजी स्कूल' के रूप में दर्शाया गया था। ये मूल रूप से माध्यमिक विद्यालय थे। उनके नीचे प्राथमिक विद्यालय थे। जो पूरी तरह से स्थानीय बोलचाल की भाषा में संचालित होते थे। आधुनिक शिक्षा की शुरुआत से पहले, भारत भर में स्वदेशी बोलचाल के स्कूलों में स्थानीय भाषा साहित्य और अंकगणित पढ़ाया जाता था। औपनिवेशिक राज्य ने, ज़्यादातर मामलों में, एकीकरण की नीति का पालन किया। इसने स्वदेशी स्कूली शिक्षकों को एक छोटा वेतन और उपस्थिति रजिस्टर बनाए रखने और वार्षिक रिपोर्ट तैयार करने के लिए कुछ प्रशिक्षण दिया, और इन्हें सरकारी प्राथमिक विद्यालय बना दिया। इसने स्वदेशी पाठ्यक्रम को भी बनाए रखा और इतिहास और भूगोल को जोड़ा। यह उन्नीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में पूरे भारत में सामान्य प्रवृत्ति थी,

बॉम्बे प्रेसीडेंसी और पंजाब को छोड़कर। यह उत्तर भारत और बंगाल में 1870 और 1880 के दशक तक जारी रहा। ii। इसके ठीक विपरीत, भारतीयों द्वारा स्थापित स्कूल, जैसे कि कलकत्ता में विद्यालय, बॉम्बे में एलफिंस्टन कॉलेज, मद्रास में पचेयप्पा कॉलेज और भारत भर में अल्पज्ञात व्यक्तियों द्वारा स्थापित कई स्कूल यूरोपीय स्कूलों की तर्ज पर बनाए गए थे, जिनमें यूरोपीय पाठ्यक्रम और ब्रिटिश प्रधानाध्यापक थे।iii। इन स्कूलों ने प्राथमिक और माध्यमिक दोनों कक्षाओं के लिए शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को अपनाया। औपनिवेशिक राज्य ने अपने शासन के पहले 95 वर्षों (1757-1852) के दौरान एक भी अंग्रेजी स्कूल स्थापित नहीं किया और बाद में कुछ आधे-अधूरे प्रयास किए। इसके द्वारा स्थापित शैक्षणिक संस्थान थे कलकत्ता मदरसा, 1781; बनारस संस्कृत कॉलेज, 1792; भागलपुर और जौनपुर के मदरसे, 1811; फोर्ट सेंट जॉर्ज कॉलेज - अरबी और संस्कृत, 1812; कलकत्ता और पूना के संस्कृत कॉलेज, 1821; आगरा कॉलेज - अरबी और संस्कृत, 1824; और दिल्ली कॉलेज - अरबी और संस्कृत, 1825। ब्रिटिश उदारवादियों के दबाव में औपनिवेशिक राज्य ने 1852 के बाद कुछ स्कूल स्थापित किए। ये ऐतिहासिक तथ्य लेखकों द्वारा प्रचलित की गई छवि को उलट देते हैं कि स्वदेशी शिक्षा 'अनौपचारिक, मौखिक' थी और अंग्रेजों ने इसे नष्ट कर दिया था और अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत एक 'औपनिवेशिक परियोजना' थी। जैसा कि उन्होंने मिनट्स में कहा

मैं अरबी और संस्कृत की पुस्तकों की छपाई तुरंत बंद कर दूंगा। मैं कलकत्ता में मुद्रासा और संस्कृत कॉलेज को समाप्त कर दूंगा। बनारस ब्राह्मणवादी शिक्षा का महान केंद्र है; दिल्ली अरबी शिक्षा का। अगर हम बनारस में संस्कृत कॉलेज और दिल्ली में मुसलमान कॉलेज को बनाए रखते हैं, तो मेरी राय में, हम पूर्वी भाषाओं के लिए पर्याप्त और उससे भी कहीं ज़्यादा कर रहे हैं। अगर बनारस और दिल्ली

कॉलेजों को बनाए रखा जाना चाहिए, तो मैं कम से कम यह सिफारिश करूंगा कि उन छात्रों को कोई वजीफा नहीं दिया जाएगा जो बाद में वहां जा सकते हैं, लेकिन लोगों को प्रतिद्वंद्वी शिक्षा प्रणालियों के बीच अपनी पसंद चुनने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए, बिना हमारे द्वारा रिश्वत दिए बिना वे वह सीख सकें जो वे नहीं जानना चाहते हैं।

आखिरकार, औपनिवेशिक हस्तक्षेप और अनुमान के बारे में सुनी-सुनाई बातें, इस भारतीय शिक्षा प्रणाली का चरित्र और प्रभाव, उस स्थिति में है, जहाँ माध्यमिक स्तर पर ऐतिहासिक समझ और समझ मुख्य चिंता का विषय है, ऐतिहासिक तर्क के साथ उपयुक्त उत्तर खोजने के लिए स्वीकृत तथ्यों और खोज के साथ भारत के माध्यमिक शिक्षा परिषद के दीर्घकालिक शैक्षिक विकास की वास्तविक तस्वीर प्राप्त करना सबसे अच्छा है। भारत में स्वदेशी और आधुनिक शिक्षा प्रणाली दोनों के तथ्य और लोकप्रिय समझ के बीच एक बड़े अंतर का कारण कार्यप्रणाली का गैर-अनुप्रयोग है, जिसे डेटा एकत्र करने और उसका विश्लेषण करने के लिए 'ऐतिहासिक पद्धति' कहा जाता है। उदाहरण के लिए, जो कार्य तर्क देते हैं कि 'अंग्रेजी शिक्षा एक औपनिवेशिक थोपना थी' वे इस धारणा पर आधारित हैं कि, चूंकि औपनिवेशिक शासकों की भाषा अंग्रेजी थी, इसलिए उन्होंने इसे भारतीयों पर थोपा। यह औपनिवेशिक नौकरशाही की आवश्यकता और सरकारी नौकरियों के लिए भारतीयों की आकांक्षा के आधार पर उचित ठहराया जाता है। ये धारणाएँ कथा में सिद्धांत बन जाती हैं। यदि कोई इस सिद्धांत के अनुसार चलता है और इसकी सत्यता को साबित करने के लिए डेटा एकत्र करता है, तो उसे मैकाले का मिनट और औपनिवेशिक सरकार में काम करने वाले कुछ भारतीयों के उदाहरण मिलते हैं। हालाँकि, इस प्रक्रिया में, किसी को मैकाले के अन्य शिक्षा मिनटों को अनदेखा करना पड़ता है, जो उनके कुख्यात मिनट और अन्य ब्रिटिश अधिकारियों के सौ से अधिक शिक्षा मिनटों से बहुत अलग रुख अपनाते

हैं। इसलिए, सटीक इतिहास लिखने के लिए ऐतिहासिक पद्धति आवश्यक है। ई.एच. कैर ने इतिहास और सामाजिक विज्ञानों को बहुत करीब आने का आग्रह किया क्योंकि सामाजिक विज्ञान इतिहासकारों के सामने उत्तर देने के लिए नए प्रश्न और परीक्षण के लिए नई परिकल्पना प्रस्तुत कर रहे थे। ऐतिहासिक पद्धति के अनुसार डेटा एकत्र करने और उसका विश्लेषण करने के बाद ऐसी निकटता प्राप्त की जा सकती है, और सामाजिक विज्ञान सिद्धांतों को यह जांचने के लिए लागू किया जा सकता है कि क्या वे किसी दिए गए ऐतिहासिक स्थिति में सही हैं। हालाँकि, यदि डेटा एकत्र करने और उसका विश्लेषण करने से पहले कोई सिद्धांत तैयार किया जाता है, तो यह गलत निष्कर्षों की ओर ले जाएगा। साम्राज्यवाद के सिद्धांतों को भारत में आधुनिक शिक्षा के विकास में लागू किया गया है। उदाहरण के लिए, मार्टिन कार्नॉय ने तर्क दिया है कि ब्रिटिश प्रशासन ने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को लागू करने के लिए मिशनरियों का इस्तेमाल किया। उन्होंने कहा कि 'कंपनी के सैन्य संरक्षण में, मिशनरी किसी भौगोलिक क्षेत्र को अधिक गहराई से जान सकते थे और लोगों की सामाजिक संरचना, संस्कृति और आर्थिक उत्पादन तथा व्यापारिक आदतों के बारे में आवश्यक जानकारी प्रदान कर सकते थे। उन्होंने ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का प्रदर्शन करके मूल निवासियों के बीच विदेशी उपस्थिति को वैध बनाने में मदद की।'viiतथ्य यह है कि अंग्रेजों ने मिशनरियों को अपने विस्तार के लिए हानिकारक माना और उन्हें भारत में प्रवेश करने से सक्रिय रूप से मना किया। मिशनरियों द्वारा 20 वर्षों की अवधि में आंदोलन करने के बाद, उन्हें 1813 में भारत में प्रवेश करने की अनुमति दी गई। कार्नॉय ने अपने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के सिद्धांत को यह कहकर मजबूत किया कि औपनिवेशिक राज्य ने विद्यालय की स्थापना की, हालांकि इसकी स्थापना राममोहन रॉय के नेतृत्व में कलकत्ता के लोगों ने की थी। कार्नॉय ने राममोहन रॉय की मांसाहारी भोजन आदतों पर भी व्यंग्यात्मक टिप्पणी की और

तर्क दिया कि रॉय ने पश्चिमी आदतों को अपना लिया था और एक तरह से जड़हीन थे।viii. हालांकि कानाँय को यह नहीं पता था कि पूर्वी भारत के अधिकांश ब्राह्मण मांसाहारी हैं। इसी तरह, गौरी विश्वनाथन ने मास्क्स ऑफ कॉन्क्वेस्ट: लिटरेरी स्टडी एंड ब्रिटिश रूल इन इंडिया में एडवर्ड सईद के ओरिएंटलिज्म के सिद्धांत को भारतीय इतिहास पर लागू करने का प्रयास किया है। यह साबित करने के लिए कि अंग्रेजों ने अंग्रेजी शिक्षा थोपी, उन्होंने बेंटिक संकल्प को गलत तरीके से प्रस्तुत किया, जो बिना किसी कानूनी मंजूरी के एक नीतिगत बयान था, जिसे 'अंग्रेजी शिक्षा अधिनियम' कहा गया, जो कानूनी रूप से लागू करने योग्य अधिनियम है। उन्होंने इस गैर-मौजूद 'अधिनियम' का उपयोग इस तर्क को सुविधाजनक बनाने के लिए किया है कि अंग्रेजों ने भारतीयों को 'जीवंत, जीवंत, पवित्र और बपतिस्मा प्राप्त' अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने के लिए मजबूर किया। धर्मपाल द्वारा 1983 में लिखी गई द ब्यूटीफुल ट्री, स्वदेशी शिक्षा के मामले में अभी भी प्रभावशाली है, एक तीव्र पश्चिम विरोधी दृष्टिकोण का अनुसरण करती है। धर्मपाल ने अपनी पुस्तक की शुरुआत इस दावे के साथ की है कि 'भारतीय शिक्षा के बारे में हमारा ज्ञान विदेशियों से प्राप्त हुआ है', फिर भी वे अपने दावे का समर्थन करने के लिए 'विदेशियों' द्वारा एकत्र किए गए डेटा का उपयोग करते हैं कि अंग्रेजों ने स्वदेशी शिक्षा को नष्ट कर दिया। उन्होंने पुस्तक को 1931 में लंदन में एम.के. गांधी द्वारा दिए गए एक बयान के आधार पर लिखा है कि 'ब्रिटिश प्रशासक, जब भारत आए, तो उन्होंने चीजों को वैसे ही संभालने के बजाय, उन्हें जड़ से उखाड़ना शुरू कर दिया। उन्होंने मिट्टी को खुरच कर जड़ को देखना शुरू किया, और जड़ को वैसे ही छोड़ दिया, और सुंदर पेड़ नष्ट हो गया।' धर्मपाल ने इस कथन से पुस्तक का शीर्षक लिया। धर्मपाल ने बंगाल और मद्रास के आंकड़ों का इस्तेमाल किया है, जबकि उन्होंने उसी अवधि के दौरान एकत्र किए गए बॉम्बे के आंकड़ों को पूरी तरह से नजरअंदाज कर

दिया है। उन्होंने 1840-1900 की अवधि के आंकड़ों को भी नहीं देखा, जिससे पता चलता है कि गांधी की धारणा गलत थी। यह सिद्धांत इस तथ्य को पूरी तरह से नजरअंदाज करता है कि अंग्रेजों ने उन्नीसवीं सदी के दौरान स्वदेशी स्कूलों को वित्त पोषित और पोषित किया।

भारतीय शिक्षा पर लागू पश्चिम-विरोधी व्याख्या का एक और उदाहरण कृष्ण कुमार का है। अपनी लोकप्रिय पुस्तक पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ़ एजुकेशन में कुमार ने तर्क दिया है कि अंग्रेजों ने 'मौखिक परंपरा पर भारतीय निर्भरता' के ठीक विपरीत 'लिखित' या 'साहित्यिक' शिक्षा लागू की। तर्क को पुष्ट करने के लिए, वे पंजाब के सार्वजनिक शिक्षा निदेशक विलियम अर्नोल्ड के एक कथन को उद्धृत करते हैं: हमने एक ऐसी आबादी पाई जिसके पास शिक्षा के अर्थ के बारे में अपना स्वयं का विचार था, और वे उस विचार से पूरी तरह से जुड़े हुए थे; और जिनके लिए शिक्षा के बारे में हमारा विचार, उनके अपने विचारों से असंगत होने के कारण, पूरी तरह से अप्रिय था; एक एशियाई के लिए वह सब कुछ अप्रिय है जो नया है। कुमार स्वदेशी शिक्षा की मौखिकता, शिक्षकों की स्वायत्तता और भारतीय शिक्षा के इतिहास में छात्रों की अधीनस्थ स्थिति पर अपने तर्कों को पुष्ट करने के लिए 2,000 साल पुरानी हिंदू पौराणिक कहानियों का उपयोग करते हैं। वे पौराणिक कथाओं को इतिहास मानते हैं, और परिणामस्वरूप वे इतिहास की एक कठोर सामाजिक विज्ञान अनुशासन के रूप में सत्तामूलक स्थिति को नकारते हैं। साथ ही, 100,000 शिलालेख, 500 ग्रंथ और 11 लिपियाँ बनाने के बाद भारतीय परंपरा मुख्य रूप से मौखिक कैसे हो सकती है? ये सिद्धांत-आधारित कार्य इतिहास या किसी भी सामाजिक विज्ञान की किसी भी पद्धति के अनुसार स्रोतों या स्रोतों के विश्लेषण पर निर्भर नहीं करते हैं, बल्कि सुविधा के अनुसार कहानियाँ गढ़ते हैं, या जिसे 'जैसा आप चाहें' इतिहास कहा जा सकता है। वे तथ्यों की प्रधानता और 'उचित इतिहास' और 'वैचारिक इतिहास' के

बीच के अंतर को अस्वीकार करते हैं और 'सच्ची व्याख्या' को एक विरोधाभास मानते हैं।

सामान्यत: स्रोतों पर निर्भर रहना और ऐतिहासिक पद्धति के प्रकृति में अनुभववादी होने का संदेह है। भारत में शिक्षा के इतिहास में इस अंतर को दूर करने के लिए शोध पद्धति पर मेरे लेखन का निम्नलिखित अंश आवश्यक है। और यह मेरा तर्क है कि ऐतिहासिक पद्धति आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति लियोपोल्ड वॉन रांके (1795-1886) द्वारा विकसित की गई थी। उनके 1821 के निबंध 'इतिहासकार के कार्य पर' ने विषय और वस्तु को पूर्ण रूप से अलग कर दिया और इतिहास लिखने के लिए स्रोतों का विश्लेषण करने की एक वैज्ञानिक पद्धति विकसित की। फिर भी, उन्होंने इतिहास की प्रशंसा और नैतिकता का विरोध किया और तर्क दिया कि इतिहास का कार्य अतीत का न्याय करना या भविष्य के लाभ के लिए वर्तमान को निर्देश देना नहीं है। इसका सार केवल यह दिखाना है कि यह वास्तव में कैसा था और जैसा कि वास्तव में हुआ था - वेई एस ईजेंटलिच गेवेसन। xiii रांके के लेखन और दस्तावेजों का विश्लेषण करने के लिए उन्होंने जो वैज्ञानिक पद्धति विकसित की, उसने उन्हें आधुनिक इतिहास का संस्थापक बना दिया। उन्होंने इतिहासकारों से अतीत का अध्ययन 'अपने अधिकार में' करने, 'चीजों को वैसा ही देखने' और 'जो कुछ हुआ, उसे पूरी तरह से उसके अपने संदर्भ में समझने' का आह्वान किया। रांके को कभी-कभी गलती से प्रत्यक्षवादी के रूप में पहचाना जाता है। उन्होंने ऐतिहासिक पद्धति की स्वायत्तता को बरकरार रखा और दार्शनिक की भूमिका को अस्वीकार कर दिया। रांके ने जिस चीज को अस्वीकार किया, वह दर्शन नहीं था, बल्कि यह धारणा थी कि इतिहास की व्याख्या करने के लिए दार्शनिक प्रणालियों का उपयोग किया जा सकता है। उन्होंने उन लेखकों की आलोचना की, जो 'तथ्यों की अनंत श्रृंखला में से उन तथ्यों को चुनते हैं, जिन पर वे विश्वास करना चाहते हैं। इसे इतिहास का दर्शन

कहा गया है। इसका अर्थ है स्रोतों की ओर लौटना, उनके द्वारा दिए गए साक्ष्यों की ओर लौटना और अमूर्त सिद्धांत न बनाने का निर्णय लेना। इतिहासकार को तथ्यों को जानना और उन्हें वैसे ही प्रस्तुत करना होता है, जैसे वे हैं। इतिहासकार को दार्शनिक अटकलों से दूर रहना चाहिए। विशेष घटनाओं और तथ्यों की सख्त प्रस्तुति, भले ही वह अनाकर्षक और नीरस हो, निस्संदेह इतिहासलेखन में सर्वोच्च नियम होना चाहिए, जो अमूर्तता और सामान्यीकरण की दार्शनिक प्रक्रियाओं की नकल नहीं कर सकता। रांके ने स्रोतों के आलोचनात्मक अध्ययन पर आधारित इतिहासलेखन के लिए एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रस्ताव रखा। xiv उन्होंने ऐसे आलोचनात्मक अध्ययन के लिए एक विधि विकसित की जो स्रोतों द्वारा प्रदान किए गए साक्ष्य का उपयोग विकृतियों को बदनाम करने और उनकी उत्पत्ति को अलग करने और अतीत के सच्चे विवरणों का अनुमान लगाने की अनुमति देती है। रांके के अनुसार, इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन तभी फल-फूल सकता है जब इतिहास के बारे में दार्शनिक अटकलें समाप्त हो जाएं। इतिहासलेखन का ज्ञान दस्तावेजी होता है, अटकलें नहीं। इतिहासलेखन का माध्यम दस्तावेज है, वैचारिक निर्माण नहीं। इतिहासलेखन विशेष और व्यक्ति से संबंधित है, सामान्य और सार्वभौमिक से नहीं।19 ऐतिहासिक पद्धति का अनुप्रयोग केवल निर्जीव अभिलेखीय दस्तावेजों तक सीमित नहीं है; इसे साक्षात्कारों पर भी लागू किया जा सकता है, और रांके ने इतिहास लिखने में मदद करने के लिए साक्षात्कार पद्धति का उपयोग किया। इसे अंततः इतिहासकारों पर भी लागू किया जा सकता है ताकि यह देखा जा सके कि उनके लेखन में वैचारिक और सामाजिक पूर्वाग्रह हैं या वे आलोचनात्मक प्रश्नों की कसौटी पर खरे उतरते हैं। इस तरह की आलोचनात्मक जांच यह देखने के लिए आवश्यक है कि इतिहासकार ऐतिहासिक स्रोतों पर अपनी व्यक्तिगत विचारधाराओं को पेश कर रहे हैं या नहीं। ई.एच. कार ने सही ढंग से देखा है कि 'इतिहास एक

विज्ञान है या नहीं, इस प्रश्न पर एंग्लो-अमेरिकन हलकों (दुनिया का अंग्रेजी बोलने वाला हिस्सा) में काफी हद तक 'अंग्रेजी भाषा की विलक्षणता' के कारण चर्चा की गई है। जर्मन शब्द विसेनशाफ्ट का सीधा सा मतलब है 'एक अनुशासन या संगठित ज्ञान का समूह।' इस प्रकार, नेचुरविसेनशाफ्ट का उपयुक्त अनुवाद 'प्राकृतिक विज्ञान' के रूप में किया जा सकता है, जबकि गेस्चिच्टविसेनशाफ्ट, जिसका अनुवाद 'ऐतिहासिक विज्ञान' होता है, का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

भारतीय शिक्षा का इतिहासलेखन

भारतीय शिक्षा का इतिहासलेखन, विशेष रूप से संस्थागत इतिहास, समृद्ध और सूक्ष्म है। डेविड कोफ़ की पुस्तक ब्रिटिश ओरिएंटलिज़्म एंड द बंगाल रेनेसां उन्नीसवीं सदी के आरंभिक भाग में हुई बहसों और विकास का विश्लेषण करती है और 'ब्रिटिश प्रभाव' के पारंपरिक इतिहास-लेखन पर सवाल उठाती है, जो 'पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण' पर केंद्रित है, और 'भारतीय प्रतिक्रिया', जो 'भारतीय विरासत और पुनर्जागरण' पर केंद्रित है। कोफ़ ने उचित रूप से पूछा है कि क्या बंगाल का पुनर्जागरण पश्चिमीकरण की प्रक्रिया थी या परंपरा की पुनर्व्याख्या थी। इस केंद्रीय प्रश्न का उत्तर देने के लिए, कोफ़ ने 'एक ओर ब्रिटिश अधिकारियों और मिशनरियों और दूसरी ओर हिंदू बुद्धिजीवियों के बीच संपर्क के परिणामस्वरूप बंगाल में लाए गए सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक परिवर्तनों' का अध्ययन करने का प्रयास किया है। यह इस पृष्ठभूमि में है कि वह ओरिएंटलिज्म के जन्म और फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना का अध्ययन करता है, जो कि गवर्नर-जनरल वेलेस्ली द्वारा 'फ्रांसीसी क्रांति के गलत सिद्धांतों को भारत में सेवारत युवा ब्रिटिश रंगरूटों तक पहुँचने से रोकने के लिए' किया गया एक अनूठा प्रयोग था। कोफ़ ओरिएंटलिस्टों की गतिविधियों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की जटिल प्रक्रिया का

विश्लेषण करता है, जो अठारहवीं सदी के अंत और उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में बौद्धिक क्षेत्र में बदलाव लाया। शिक्षा के क्षेत्र में यूरोपीय और भारतीयों के बीच बातचीत की यह जटिल प्रक्रिया भगवान प्रसाद मजूमदार की फर्स्ट फ्रूट्स ऑफ़ इंग्लिश एजुकेशन: 1817-1857 की पृष्ठभूमि बनाती है यह आधुनिक विज्ञान और अंग्रेजी साहित्य पढ़ाने के लिए एशिया में स्थापित पहला कॉलेज था। मजूमदार पहले इतिहासकार हैं जिन्होंने छात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि, कॉलेज की संरचना, कार्यप्रणाली और पाठ्यक्रम का विश्लेषण किया है। उन्होंने कुछ प्रमुख ब्रिटिश और भारतीय शिक्षकों और छात्रों के जीवन और गतिविधियों का भी आलोचनात्मक विश्लेषण किया है। पुस्तक में कॉलेज के शिक्षकों और छात्रों के बीच कट्टरपंथ और राजनीतिक चेतना के विकास की जानकारी का खजाना है। नीता कुमार, अपनी पुस्तक लेसन्स फ़्रॉम स्कूल्स: द हिस्ट्री ऑफ़ एजुकेशन इन बनारस में, उन जटिलताओं को देखती हैं जिन्हें वह मौजूदा संस्कृत स्कूलों, या पाठशालाओं पर समरूप औपचारिक ढांचे के आक्रामक आरोपण कहती हैं। माइकल डोडसन ने ओरिएंटलिज्म, एम्पायर एंड नेशनल कल्चर: इंडिया 1770-1880 में बनारस के संस्कृत कॉलेज की आगे की जांच की। वह बताते हैं कि कैसे बेहतर राज्य वेतन और नौकरियों के राज्य आश्वासन के बावजूद, मिशनरी शिक्षा का इतिहासलेखन समृद्ध है। डी.एच. एमॉट की 'अलेक्जेंडर डू एंड द फाउंडेशन ऑफ मॉडर्न एजुकेशन इन इंडिया' और एम.ए. लेयर्ड की मिशनरीज एंड एजुकेशन इन बंगाल 1793-1837 सभी मिशनरियों, विशेषकर सभी प्रोटेस्टेंट मिशनरियों को एक ही टोकरी में डालने की सरलीकृत तस्वीर से परे जाती हैं। यदि एमॉट अलेक्जेंडर डू, एक प्रेस्बिटेरियन मिशनरी की शैक्षिक गतिविधियों की विशिष्टताओं को उनकी गेलिक जड़ों से जोड़ते हैं, तो लेयर्ड ने अंग्रेजी और स्कॉटिश प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म और शिक्षा प्रणाली के बीच के अंतर को इन मिशनरियों की शैक्षिक गतिविधियों की पृष्ठभूमि के रूप में प्रभावी ढंग से रखा है। डू के कलकत्ता

आने तक, मिशनरियों ने बहुत ही बुनियादी स्थानीय साक्षरता दी। एमॉट ने विश्लेषण किया कि कैसे स्कॉटिश हाइलैंड्स के मूल निवासी के रूप में डू ने बहुत पहले ही महसूस कर लिया था डू ने गेलिक और बंगाली को एक ही श्रेणी में रखा।' यह डू के स्कूल की लोकप्रियता थी जिसने अन्य मिशनरियों को अनिच्छा से ही सही, लेकिन समान मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया। गेलिक भाषी डू अंग्रेजी शिक्षा के सबसे प्रबल समर्थक थे, जबकि अंग्रेजी भाषी बैपटिस्ट मिशनरी बंगाली को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रबल समर्थक थे।[xxi]। रॉबर्ट एरिक फ्राइकेनबर्ग ने शिक्षा के क्षेत्र में मिशनरी गतिविधियों की एक विस्तृत श्रृंखला का विश्लेषण किया है, जो बार्थोलोमॉस ज़ीगेनबाल्ग और हेनरिक प्लुशॉ द्वारा 1706 में ट्रेंक्यूबार में स्थापित पहले प्रोटेस्टेंट मिशन से लेकर बीसवीं सदी के अंतःक्रियाओं तक है। कोजी कावाशिमा ने मिशनरी शिक्षा के गहन अध्ययन में 'मिशनरियों को साम्राज्यवाद का दास मानने' की धारणा पर सवाल उठाया है। त्रावणकोर के महाराजा द्वारा स्थापित स्कूल में बाइबिल पढ़ाई जाती थी सावधानीपूर्वक एकत्रित आंकड़ों के माध्यम से उन्होंने साबित किया है कि हिंदू राज्य ने मिशनरी शिक्षा को बढ़ावा दिया, जबकि ब्रिटिश अधिकारियों ने इसे प्रतिबंधित किया।

जब हिंदू दीवान शिक्षा के प्रभारी थे, तब 1,265 सहायता प्राप्त मिशनरी स्कूल थे और जब ब्रिटिश अधिकारी ए. सी. मिशेल को शिक्षा सचिव बनाया गया, तो एक साल के भीतर स्कूलों की संख्या घटकर 472 हो गई।[xxiii]। भारत के विभिन्न प्रांतों से संबंधित अभिलेखीय स्रोतों पर आधारित कई अच्छी तरह से शोध की गई पुस्तकें हैं। आर. वी. परुलेकर की स्वदेशी शिक्षा पश्चिमी भारत के सूक्ष्म डेटा का संग्रह है और इसकी प्रस्तावना महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करती है। उनके अन्य तीन खंड औपनिवेशिक शासन के प्रारंभिक काल के शैक्षिक अभिलेखों से संबंधित हैं। जटाशंकर

झा की मिथिला में आधुनिक शिक्षा की शुरुआत क्षेत्र का स्थानीय विवरण देती है और दिखाती है कि कैसे दरभंगा प्रशासन ने प्राथमिक स्कूलों को बंद कर दिया क्योंकि 'किसानों ने अपने महाराजा के प्रति बुरा व्यवहार किया', जिसके परिणामस्वरूप यह क्षेत्र बिहार के अन्य हिस्सों की तुलना में शैक्षिक रूप से पिछड़ा रह गया।[xxiv]। ये सूक्ष्म अध्ययन इतिहासलेखन में एक अमूल्य योगदान हैं। टिम एलेंडर की रूलिंग थ्रू एजुकेशन पंजाब में ब्रिटिश शिक्षा नीतियों का विस्तार से वर्णन करती है। स्टुअर्ट ब्लैकबर्न की प्रिंट, फोकलोर एंड नेशनलिज्म इन कोलोनियल साउथ इंडिया और भवानी रमन की डॉक्यूमेंट राज: राइटिंग एंड स्क्राइब्स इन अर्ली कोलोनियल साउथ इंडिया तमिल पंडितों के उदय से संबंधित है जिन्होंने आधुनिक व्याकरण की पुस्तकें और साथ ही तमिल स्वदेशी विद्यालयों की शिक्षाशास्त्र तैयार की। ये दोनों पुस्तकें मद्रास में फोर्ट सेंट जॉर्ज कॉलेज के गठन और दक्षिण भारतीय स्थानीय भाषाओं पर इसके प्रभाव से संबंधित हैं। वर्तमान कार्य मैकाले से आगे जाकर ब्रिटिश भारत में आधुनिक शिक्षा पर कई बहसों को दर्ज करने का प्रयास करता है, 1780 में कलकत्ता में मदरसा नामक पहले औपनिवेशिक शैक्षणिक संस्थान की स्थापना से लेकर ईस्ट इंडिया कंपनी (ईआईसी) के प्रशासन के अंत और 1860 में ब्रिटिश ताज के प्रशासन की शुरुआत तक। पहली बार, इनमें से कई बहसें सार्वजनिक डोमेन में लाई गई हैं। स्कूलों की स्थापना के लिए याचिकाओं और छात्रों के निबंधों में दर्ज भारतीय आवाज़ों का भी विश्लेषण किया गया है। यह उन्हें शाही प्रशासन के सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ के साथ-साथ शाही एजेंडे के प्रति उदार स्कॉटिश असहमति में रखता है। यह काम अज्ञात छात्रों और आम लोगों की आवाज़ को मुख्यधारा के इतिहास में लाने का प्रयास करता है।

भारत में उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया भौतिक रूप से क्षेत्रों पर विजय के साथ शुरू हुई, जिसके बाद मन, आत्मा और संस्कृतियों पर विजय प्राप्त हुई। यूरोप को सभ्यता के स्थल के रूप में स्थापित करने के लिए, उपनिवेशित दुनिया को अपने स्वयं के ज्ञान और मूल्य से खाली करना पड़ा। इस प्रकार, पश्चिम को न केवल संरचनाओं में बल्कि मन में भी स्थापित किया जाना था। xxv. अंतर-सांस्कृतिक लेन-देन के तनावों में से एक यह था कि यद्यपि उपनिवेशित लोग उपनिवेशवादियों को बहुत नापसंद करते थे, लेकिन वे उपनिवेशवादियों के पास मौजूद शक्ति और ज्ञान के लिए भी तरसते थे। भारत के मूल निवासी अंग्रेजी शासन के विशेषाधिकार और लाभ चाहते थे, बिना अंग्रेजी लोगों की भौतिक उपस्थिति के।xxvi. नियंत्रण में रहने के लिए, उपनिवेशवादी को अनिवार्य रूप से शिक्षक बनना पड़ा और यह घोषणा करनी पड़ी कि उपनिवेशित भारतीयों को उचित रूप से शिक्षित करने का एकमात्र तरीका शिक्षक की भाषा और सिद्धांत के माध्यम से था। ब्रिटिश भारत में, इसके लिए शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली को लागू करने की आवश्यकता थी जो नौकरशाही रूप से मूल निवासियों को शिक्षित करने के तरीके को नियंत्रित करे। यह धारणा कि उचित शिक्षा को उपनिवेशवादी की भाषा और सिद्धांत द्वारा परिभाषित किया जाना चाहिए, 1835 के प्रसिद्ध मैकाले के मिनट का अंतर्निहित आधार बन गया, जिसमें भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड मैकाले ने घोषणा की कि अंग्रेजी भाषा भारत के स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बन जाएगी। मैकाले के मिनट की घोषणा भारत में शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली की शुरुआत थी, जो अपने स्वयं के इतिहास और दर्शन को त्याग कर पश्चिमी बन गई। इसने 1835 में अंग्रेजी शिक्षा अधिनियम के पारित होने को प्रभावित किया, जिसमें भारत के मूल निवासियों को इसके अध्ययन के लिए प्रस्तुत करने की आवश्यकता थीxxvii। सामाजिक-सांस्कृतिक रचनावाद के पिछले अनुभाग में, मैंने संक्षेप में अर्थ के निर्माण में भाषा की प्रमुख भूमिका पर चर्चा की।

भारत में अंग्रेजी को शिक्षा और संचार की भाषा बनाकर, उत्तर-औपनिवेशिक भारतीयों की अर्थ-निर्माण प्रक्रियाएं दुनिया की एक जटिल समझ में विकसित हुईं, ब्रिटिश औपनिवेशिक काल की एक और विरासत जो बची हुई है, वह है पाठ्यपुस्तक केंद्रित और परीक्षा-उन्मुख शिक्षाशास्त्र, जो भारत में शिक्षा पर हावी होने लगी और आज भी जारी है। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा लागू की गई शिक्षा की यह रटने वाली प्रणाली ब्रिटिश नौकरशाही द्वारा शासित हुई, जिसने स्कूली शिक्षा के सभी पहलुओं को नियंत्रित किया। ब्रिटिश उपनिवेशवाद की तीसरी विरासत अपनी छवि में देशी अभिजात वर्ग के एक वर्ग का निर्माण था। इस अभिजात भारतीय मध्यम वर्ग के निर्माण की तत्काल आवश्यकता पर लॉर्ड मैकाले ने जोर दिया था, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट किया था कि यह समूह ब्रिटिश शासकों और उनके द्वारा शासित लाखों लोगों के बीच दुभाषिए के रूप में काम करेगा, ऐसे लोगों का एक वर्ग जो रक्त और रंग में भारतीय होंगे, लेकिन स्वाद और बुद्धि में अंग्रेज़ होंगे। इस प्रकार, ये भारतीय साहब अंग्रेजी कपड़े पहनते थे, एक-दूसरे से अंग्रेजी में बात करते थे, अंग्रेजी शैली में सुसज्जित बंगलों में रहते थे, अंग्रेजी खाने के तौर-तरीकों का पालन करते थे और मूल रूप से अंग्रेजी शिष्टाचार का पालन करने की कोशिश करते थे।

हालाँकि, अक्सर वे केवल असहज और हास्यास्पद दिखने में ही सफल रहे। ऐसी व्यक्तिगत प्रक्रियाओं और स्थायी विरासतों के माध्यम से ही उपनिवेशवादी और उपनिवेशित विचारों के संकरीकरण का आकर्षक लेन-देन भारतीय मन में स्थापित हुआ। दूसरे स्तर पर, प्राचीन भारतीय दर्शन और यूरो-अमेरिकी दार्शनिकों के बीच लेन-देन के संबंध की ऐतिहासिक प्रकृति को हाइडेगर, नीत्शे, शोपेनहावर, हुसरल और अन्य के दार्शनिक प्रवचनों में देखा जा सकता है। ये और कई अन्य दार्शनिक अठारहवीं शताब्दी में इंडोलॉजी के उदय से उत्पन्न मुठभेड़ों से गहराई से प्रभावित

थे। प्राचीन भारत के दर्शन और शास्त्रों में पश्चिमी दुनिया की रुचि 1784 में चार्ल्स विल्किंस द्वारा हिंदू धर्म के सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ भगवद गीता के अनुवाद के साथ शुरू हुई। इसने न केवल ऊपर वर्णित यूरोपीय दार्शनिकों के कार्यों को सीधे प्रभावित किया, बल्कि थोरो, इमर्सन, व्हिटमैन, ई.एम. फोर्स्टर और टी.एस. इलियट जैसे लेखकों के कार्यों को भी प्रभावित किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय और पश्चिमी दर्शन के बीच विचारों का हस्तांतरण कई सौ साल पहले शुरू हुआ था। हालाँकि उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श पश्चिम में अकादमिक विमर्श के साथ और उसके विरुद्ध दोनों तरह से चलता है, फिर भी यह पश्चिमी शिक्षाविदों की आवाज़ में बोलता है; यदि यह प्रमुख विमर्श में कोई बदलाव लाने की उम्मीद करता है तो "अन्य" विमर्श, इस मामले में स्थानीय भारतीय दर्शन, की बात की जानी चाहिए और पश्चिमी दर्शन से इसका संबंध स्थापित किया जाना चाहिए। जबकि दर्शन के लिए एक पश्चिमी दृष्टिकोण ने बड़े पैमाने पर विज्ञान और तर्क, इंद्रियों और भौतिकवाद पर जोर दिया, दर्शन के लिए पूर्वी दृष्टिकोण, जैसे कि भारतीय, चीनी, जापानी और मध्य पूर्वी, ने व्यक्ति की आंतरिक दुनिया और अंतर्ज्ञान पर जोर दिया xxxi। ग्रीक दर्शन के विपरीत, जिसने दर्शन और धर्म को अलग कर दिया, भारतीय विचारधारा में दर्शन और धर्म निकटता से और लगभग अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं। ढिल्लन हमें भारतीय और यूरोपीय दर्शन के बीच संबंधों में दो बहुत ही महत्वपूर्ण क्षणों की याद दिलाते हैं। पहला भारतीय विचार का दर्शन और धर्म में विभाजन है, और दूसरा उपनिवेशीकरण और पश्चिमी समाज के आधिपत्य की स्थितियों के तहत भारतीय दर्शन के मिटने की प्रक्रिया है। अगला अध्याय भारतीय दर्शन, मुख्य रूप से हिंदू दर्शन की प्रकृति का पता लगाता है, इस विभाजन से पहले। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहूँगा कि मैं यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्पन्न शैक्षिक दर्शन और प्राचीन भारत में उत्पन्न शैक्षिक दर्शन की जाँच करते समय एक शैक्षिक

दृष्टिकोण को दूसरे पर महत्व नहीं दे रहा हूँ। मेरा उद्देश्य उन विचारों और शिक्षाशास्त्रों की निरंतरता और निरंतर प्रवाह का वर्णन करना है जो कई निजी शहरी भारतीय स्कूलों में प्रारंभिक बचपन की शिक्षा में एक विशेष दृष्टिकोण बनाते हैं जैसा कि इस अध्ययन में स्पष्ट हुआ। यह एक ऐसा दृष्टिकोण था जो कर्तव्य की भावना, पारिवारिक संबंधों और बड़ों और पूर्वजों के प्रति सम्मान जैसे मूल्यों को दर्शाता था, साथ ही भौतिक वस्तुओं, सामाजिक उन्नति और बदलते मानकों पर जोर जैसे विचारों को भी दर्शाता था, जो सभी एक अद्वितीय सामाजिक-सांस्कृतिक निर्मित पाठ्यक्रम में एक साथ आते थे। स्कूली पाठ्यक्रम और शिक्षकों की अपनी प्रथाओं और प्रारंभिक बचपन के स्तरों पर विश्वासों में मौजूद संकर और लेन-देन के दृष्टिकोण का समर्थन करने के प्रयास में, मैं भारत में अधिक कठोर और औपनिवेशिक वर्तमान शिक्षक शिक्षा पाठ्यक्रम की पुनः जाँच करने का भी आग्रह कर रहा हूँ।

प्राचीन भारत में शिक्षा का दर्शन मुख्य रूप से वेद, उपनिषद, वेदांत, ब्राह्मण और भगवद गीता जैसे शास्त्रों की दार्शनिक पेशकशों पर आधारित था, जिनमें से सबसे प्राचीन वेद हैं। इसके अलावा, 5,000 साल पुरानी भारतीय सभ्यता की शुरुआत के बारे में जो कुछ भी ज्ञात है, उसे इन लिखित विवरणों से पुनर्निर्मित किया गया है। भारतीय दर्शन को समझने का प्रयास करने से पहले इन शास्त्रों के बारे में कुछ प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त करना प्रासंगिक है। चित्र 2.1 प्राचीन भारतीय शास्त्रों और प्रमुख ग्रंथों की कालानुक्रमिक उत्पत्ति और विकास को रेखांकन के रूप में दर्शाता है। प्रत्येक पाठ के नाम के साथ एक संक्षिप्त विवरण है, चित्र के बाद प्रत्येक शास्त्र और पाठ का अधिक विस्तृत सारांश है। इस पुस्तक में मेरा उद्देश्य इन ग्रंथों की आलोचना करना या उन्हें सही या गलत मानना नहीं है। संक्षेप में, मेरा एकमात्र उद्देश्य उन ग्रंथों से परिचित कराना है जो शहरी और ग्रामीण भारत दोनों में आबादी के एक बड़े प्रतिशत की मान्यताओं, मूल्यों और प्रथाओं को परिभाषित करना जारी रखते हैं। वेद

वेद शब्द “विद” मूल से लिया गया है, जिसका अर्थ है जानना। ऐसा कहा जाता है कि प्रागैतिहासिक काल में सात “ऋषि” या संत थे, जो मानव जाति के शिक्षक थे, जिन्हें पवित्र ज्ञान प्राप्त हुआ जो उन्हें प्रकट हुआ था xxxii. इस ग्रंथ को सबसे पहले मौखिक रूप से सटीकता के साथ जोर देकर आगे बढ़ाया गया था, और मौखिक परंपरा में सटीकता की इस डिग्री को कम करके नहीं आंका जाना चाहिए। वेद के पहले लिखित खातों का पता 2000 ईसा पूर्व लगाया जा सकता है। 1784 में चार्ल्स विल्किंस द्वारा भगवद गीता का अंग्रेजी में अनुवाद करने के बाद यूरोप में संस्कृत भाषा में रुचि बढ़नी शुरू हुई xxxiii. जर्मन संस्कृतविद् फ्रेडरिक मैक्स मुलर (1823-1900), जिन्होंने ऑक्सफोर्ड में तुलनात्मक धर्मशास्त्र पढ़ाया और ऋग्वेद, वेद की पहली पुस्तक के सबसे शानदार संस्करणों में से एक प्रदान किया, इसे विश्व इतिहास का सबसे पुराना ऐतिहासिक विवरण माना जाता है; वेदों को दुनिया के सबसे पुराने धार्मिक लेखन में से एक माना जाता है xxxiv. प्रारंभिक रचनाओं के लिए प्रयुक्त भाषा पुरातन वैदिक है, जिससे बाद में संस्कृत व्युत्पन्न हुई और यह लैटिन तथा ग्रीक सहित अधिकांश यूरोपीय भाषाओं की मूल भाषा है। वेद में चार पुस्तकें हैं और कुल मिलाकर यह कार्य बाइबल से छह गुना बड़ा है। वेदों की रचना उत्तर भारत में हुई थी, इसका समर्थन इस तथ्य से होता है कि वैदिक साहित्य में वर्णित सभी भौगोलिक सीमाएं भारत की मूल सीमाओं के भीतर आती हैं। ऋग्वेद में 1,017 भजन हैं, जिन्हें 10 विभिन्न पुस्तकों में विभाजित किया गया है, जिनमें से 7 मूल नाभिक का निर्माण करते हैं। इन 7 पुस्तकों में से प्रत्येक को एक अलग ऋषि का माना जाता है और उसे उनके वंशजों को दिया गया था। इस प्रकार ये पुस्तकें पारिवारिक संग्रह थीं, जिन्हें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपा जाता था और इन्हें पारिवारिक विरासत के रूप में ईर्ष्यापूर्वक संरक्षित किया जाता था।

वैदिक साहित्य में तीन सत्ताओं–पृथ्वी, वायुमंडल और स्वर्ग–के ईश्वरीय प्रतिनिधित्व के लिए भजनों, मंत्रों और मंत्रों का एक समूह शामिल है, जिसका प्रयास लोगों की भौतिक आवश्यकताओं और आध्यात्मिक जीवन के बीच सामंजस्य स्थापित करना है। मनुष्य को आत्मा, एक परम स्रोत या वास्तविकता का हिस्सा माना जाता है और धर्म में इस आत्मा का ध्यान करना और सदाचार और धार्मिकता का जीवन जीना शामिल है। वेद के मूल विचार बाद के अन्य हिंदू ग्रंथों में व्याप्त हैं और भारत के दर्शन, साहित्य, कविता, महाकाव्य पौराणिक कथाओं, कला, संगीत और नृत्य में अभिन्न रूप से अंतर्निहित हैं। ब्राह्मण ये गद्य में रचनाएँ हैं और 800 ईसा पूर्व और 500 ईसा पूर्व के बीच रची गई थीं। वे सभी विभिन्न वैदिक विद्यालयों से जुड़े हुए हैं। बलि अनुष्ठानों के बारे में निर्देशों और व्याख्याओं के अलावा, उनमें पौराणिक कथाएँ, अटकलें, तर्क और व्याकरण, खगोल विज्ञान, व्युत्पत्ति विज्ञान, दर्शन और कानून की शुरुआत भी शामिल हैं इन समूहों या वर्गों को ब्राह्मण (पुजारी), क्षत्रिय (कुलीन और योद्धा), वैश्य (व्यापारी और कृषक), और शूद्र (सफाई कर्मी और कारीगर) के रूप में मान्यता प्राप्त थी। उपनिषद ये दार्शनिक चिंतन के लिए समर्पित ग्रंथ हैं और ब्राह्मण साहित्य के अंतिम चरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हें छात्रों को गुरु, या शिक्षक की शिक्षाएं माना जाता है। इनकी रचना 800 ईसा पूर्व और 500 ईसा पूर्व के बीच हुई थी। उन्होंने जो उच्च दार्शनिक ज्ञान प्रदान किया, वह वेदों में प्रकट पूजा के अनुष्ठानिक रूपों से असंतोष की भावना से निकला था। सभी वेद और बलिदान अनुष्ठानों का अध्ययन करने वाले शिष्य गहन दार्शनिक चिंतन और उत्तरों के ज्ञान के लिए उपनिषद के अध्ययन की ओर मुड़ गए। उपनिषद जीवन को दर्द और पीड़ा से चिह्नित मानते हैं, हालाँकि, उपनिषद यह भी सलाह देते हैं कि इस दुख से खुद को मुक्ति दिलाने में सक्षम होने का विकल्प व्यक्ति के अपने कार्यों या कर्म के माध्यम से है। जीवन और ध्यान की शुद्धता के माध्यम से प्राप्त

निरपेक्ष या अंतिम वास्तविकता के सच्चे ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है xxxvi। उपनिषद में जोर सत्य की खोज, और व्यक्तिगत स्वयं और पूर्ण स्वयं के ज्ञान पर है। दार्शनिक शोपेनहावर ने उपनिषद ग्रंथों को एक गंभीर भावना से व्याप्त माना, जिसमें हर वाक्य से मूल और उदात्त विचार निकलते हैं; इन ग्रंथों का अध्ययन सबसे उत्थानकारी अनुभवों में से एक बना। वेदान्त इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है अंत, "अंत", वेद की पूर्णता और मुकुट। कार्य को वेद पर समापन प्रतिबिंब के रूप में माना जाता है, जो उपनिषद से उभर रहा है। इस प्रकार यह भौतिक जगत की प्रकृति पर सवाल उठाता है और इसे माया, एक भ्रम के रूप में व्यक्त करता है। मनु के नियम ऐसा कहा जाता है कि मनु के नियम, नियमों और विनियमों की पुस्तकें, ईसाई युग की पहली कुछ शताब्दियों में दिखाई दीं। इन ग्रंथों का हिंदुओं के जीवन में बहुत महत्व था और उन्होंने ऐसे नियम बनाए जो आज भी भारत में सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजों को प्रभावित करते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि मनु ने चार जातियों को परिभाषित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी जो विवादास्पद भारतीय जाति व्यवस्था में जम गईं। उन्होंने जीवन के उन चरणों को भी निर्दिष्ट किया जिसमें एक पुरुष और एक महिला को रहना चाहिए: युवावस्था, मध्य आयु और वृद्धावस्था। भगवद गीता हालाँकि भगवद गीता महान भारतीय महाकाव्य महाभारत में सिर्फ़ एक प्रकरण का विवरण है, यह 700 छंदों के रूप में अपने आप में पूर्ण है, और विलियम वॉन हम्बोल्ट द्वारा किसी भी ज्ञात भाषा में मौजूद सबसे सुंदर, दार्शनिक गीत के रूप में वर्णित है। यह एक महान युद्ध का वर्णन करता है और केंद्रीय विषय उस पीड़ा पर केंद्रित है जो अर्जुन, मुख्य पात्रों में से एक, महसूस करता है जब उसे एहसास होता है कि उसे बड़े समाज को नैतिक पतन से बचाने के लिए अपने ही प्यारे विस्तारित परिवार से लड़ना है। नेहरू ने इसे एक ऐसी कविता

बताया है जो न केवल राजनीतिक और सामाजिक संकट से निपटती है, बल्कि मानस की आत्मा में व्याप्त संकट से भी निपटती है।

गीता मानव अस्तित्व की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से संबंधित है, और यह जीवन के दायित्वों और कर्तव्यों को पूरा करने के साथ-साथ इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि और ब्रह्मांड के बड़े उद्देश्य को ध्यान में रखने का आह्वान है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में हिंदू धर्म के आधुनिक पुनर्जागरण का नेतृत्व इसकी अंतर्निहित अवधारणाओं की पुनरावृत्ति के साथ रवींद्र नाथ टैगोर, श्री अरबिंदो, डॉ एस राधाकृष्णन, विवेकानंद और महात्मा गांधी जैसे कई अन्य लोगों ने किया है। भारतीय दर्शन मुख्य रूप से हिंदू दर्शन है और ऊपर वर्णित हिंदू ग्रंथों पर आधारित है। हिंदू दर्शन में छह मान्यता प्राप्त प्रणालियाँ या स्कूल हैं और वे हैं न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। सभी स्कूलों का आधार एक ही है और साथ में वे एक व्याख्या प्रदान करते हैं कि अंतिम वास्तविकता क्या है। इसका उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करने के विभिन्न तरीकों को वर्गीकृत करके हमें मोक्ष प्राप्त करने में सक्षम बनाना है। इस प्रणाली या स्कूल को न्याय कहा जाता है। दूसरा स्कूल या सिस्टम वस्तुनिष्ठ दुनिया के सभी ज्ञान को नौ वास्तविकताओं के अंतर्गत वर्गीकृत करता है: पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, समय, स्थान, आत्मा और मन। वास्तविकता का ज्ञान होने से, जिन वस्तुओं को हम देखते हैं, वे हमारे भीतर आकर्षण या घृणा की भावना को नहीं जगाएँगी, जो सभी दर्द का स्रोत है। इस प्रणाली को वैशेषिक कहा जाता है। हिंदू दर्शन का तीसरा स्कूल दर्शाता है कि इस दुनिया में सभी व्युत्पन्न अनुभव दो वास्तविकताओं से उत्पन्न होते हैं - आत्मा और पदार्थ। यह पदार्थ के अपने ब्रह्मांडीय कारण से विकास को निश्चित नियमों के अनुसार वास्तविकताओं में संभावनाओं के प्रक्षेपण के रूप में देखता है जिसे मनुष्य द्वारा समझा और नियंत्रित किया जा सकता है। इस स्कूल का मूल सिद्धांत यह है कि सृजन असंभव है, क्योंकि कुछ

भी शून्य से नहीं आ सकता है। जो कुछ भी है, वह हमेशा है; और जो कुछ भी नहीं है, वह कभी नहीं है। दर्शन की इस तीसरी प्रणाली या स्कूल को सांख्य कहा जाता है। चौथी प्रणाली उन तरीकों और साधनों से संबंधित है जिनके द्वारा व्यक्ति प्रत्यक्ष अनुभव के माध्यम से वास्तविकता को जान सकता है। यह मानवीय दक्षता को पूर्ण करने की एक प्रणाली है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को तीन प्रकार के दर्द से मुक्त करना है–जो व्यक्ति की अपनी दुर्बलताओं और गलत आचरण से उत्पन्न होते हैं; जो अन्य जीवित चीजों के साथ किसी के संबंधों से उत्पन्न होते हैं; और जो प्राकृतिक और अलौकिक तत्वों के साथ किसी के संबंधों से उत्पन्न होते हैं। हिंदू दर्शन के इस स्कूल को योग के रूप में जाना जाता है। पांचवीं प्रणाली वैदिक अनुष्ठानों और ग्रंथों की सही व्याख्या से संबंधित है। इस प्रणाली को पूर्वमीमांसा कहा जाता है। यह शब्द संस्कृत मूल "माम्" से लिया गया है, जिसका अर्थ है सोचना, जांचना, जांचना। मीमांसा का उद्देश्य सही कार्रवाई, या धर्म की प्रकृति की जांच करना है, जो जीवन की आध्यात्मिक शर्त है। दर्शन की छठी और अंतिम प्रणाली उत्तरमीमांसा या वेदांत है।

यह परम वास्तविकता की प्रकृति की जांच करता है और दिखाता है कि कैसे दुनिया अपनी अनंत विविधता के साथ केवल एक दिखावा है, और सभी चीजें एक और एक ही हैं, केवल अलग-अलग दिखाई देती हैं। केंद्रीय विषय उपनिषद की दार्शनिक शिक्षाएं हैं जो तीन सिद्धांतों की प्रकृति और संबंध के बारे में हैं - ईश्वर, दुनिया और आत्मा, जिसमें सार्वभौमिक आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा के बीच का संबंध शामिल है। वेदांत सभी मानवीय ज्ञान को समेटने का प्रयास करता है, जो कुछ भी सार्वभौमिक है उसे सत्य के रूप में प्रस्तुत करता है, और जो कुछ भी अलग है उसे समेटता है। यह किसी भी चीज़ को अंतिम नहीं मानता है, बल्कि यह जांच, जांच और विश्लेषण करता है। इसकी तुलना अतीत के सत्य साधकों द्वारा एकत्रित आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि

के खजाने से की गई है। निष्कर्ष में, हिंदू परंपरा प्राथमिक वास्तविकता के रूप में चेतना पर जोर देने वाली एक शक्तिशाली मनोवैज्ञानिक प्रणाली के रूप में दिखाई देती है। संक्षेप में, इस प्रणाली का तात्पर्य है कि मन और बुद्धि अकेले सत्य को नहीं जान सकते। बल्कि, सत्य को अपने अस्तित्व के रूप में महसूस किया जाना चाहिए क्योंकि यह व्यक्ति का अपना अस्तित्व है। हिंदू धर्म का दर्शन और मनोविज्ञान दोनों ही इस धारणा पर आधारित हैं कि मानव मन में जीवन के उद्देश्य, मानव होने का अर्थ, दुख के कारण, सुखी और शांतिपूर्ण जीवन का रहस्य, मानव ऊर्जा और ब्रह्मांड के बीच संबंध, इत्यादि जैसी मूलभूत पहेलियों के उत्तर खोजने की अपार क्षमता छिपी हुई है। प्राचीन शास्त्रों में छिपे और बिखरे ये बुनियादी दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विचार मनोचिकित्सा, शिक्षा, प्रबंधन और सामाजिक कार्य के लिए उपकरण प्रदान करते हैं, और भारतीय विश्वदृष्टि के भीतर स्वयं, ज्ञान और शिक्षा, विविधता और नैतिक विकास जैसे तत्वों की वैचारिक समझ को परिभाषित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। “स्व” जैसा कि दार्शनिक स्वयं की अवधारणा पर चर्चा करते हैं और स्वयं के परस्पर विरोधी पहलुओं को प्रस्तुत करने वाली कई विचारधाराओं को समेटने का प्रयास करते हैं, स्कूल और शिक्षक इन विभिन्न अवधारणाओं को समझने के लिए बहुसांस्कृतिक शिक्षा की ओर रुख करते हैं। यदि शिक्षा को स्वयं का विकास करना है, तो हमें सबसे पहले यह परिभाषित करना होगा कि स्वयं क्या है। उभरते हुए स्वयं की विभिन्न धारणाएँ हैं और हम अब यह नहीं मान सकते कि एक तरह की स्कूली शिक्षा हर तरह के स्वयं को फिट कर सकती है। इसे ध्यान में रखते हुए, यह तर्क दिया जा सकता है कि भारत में शिक्षा पर चर्चा करते समय अधिकांश भारतीयों की मान्यताओं के माध्यम से स्वयं की अवधारणा को समझना आवश्यक है - ऐसी मान्यताएँ जो प्राचीन हैं लेकिन अभी भी बहुत जीवित हैं और लोगों के दैनिक जीवन में कई अलग-अलग स्तरों पर उनका

पालन किया जाता है। वैदिक दर्शन भारतीय परंपरा के लिए आधार प्रदान करता है, और मोक्ष प्राप्त करने के लिए जीवन जीने के तरीके के लिए संरचनाओं को निर्धारित करता है। इस दर्शन के अनुसार, वास्तविकता को जीवन और निर्जीव से मिलकर देखा जाता है। यहाँ जीवन स्वयं है, और निर्जीव पदार्थ है। पदार्थ के तीन मूल गुण हैं: (1) सामंजस्य और सत्य, (2) ऊर्जा, और (3) जड़ता। पदार्थ की ये तीन किस्में स्वयं के विभिन्न पहलुओं को घेरती हैं, और प्रत्येक पहलू इस प्रकार कल्पना करता है कि यह एक अलग और स्वतंत्र स्वयं है। मुक्ति तब होती है जब प्रत्येक भ्रमित पहलू को पता चलता है कि उसकी कोई अलग पहचान नहीं है मानव जीवन का प्राथमिक उद्देश्य इस भ्रम पर विजय प्राप्त करना, अपने सच्चे स्व को खोजना और उसे अपने अहंकार से अलग पहचानना है, इस प्रकार मानव दुख से मुक्ति या स्वतंत्रता प्राप्त करना है। इस स्वतंत्रता को मोक्ष के रूप में जाना जाता है। यह तभी किया जा सकता है जब ऊर्जा और जड़ता से बने भौतिक आवरण की गंदगी स्पष्ट हो जाए और आत्मा स्वयं को सत्य की शुद्धता में देख सके। भगवद गीता के अनुसार, आत्मा को उसकी स्पष्टता में देखना संभव है, और यह प्राप्ति तीन मार्गों से हो सकती है: (1) ध्यान का मार्ग (ध्यानयोग); (2) ज्ञान का मार्ग (ज्ञानयोग), और (3) भक्ति का मार्ग (भक्तियोग)। इसीलिए हजारों सालों से हिंदू दर्शन में मोक्ष के मार्ग के रूप में ज्ञान या ज्ञान पर जोर दिया जाता रहा है। उपनिषदिक ग्रंथ व्यक्ति में ज्ञान के इस स्तर के विकास को रेखांकित करते हैं: “आत्मा जो पाप से मुक्त है, बुढ़ापे से मुक्त है, मृत्यु और शोक से मुक्त है, भूख और प्यास से मुक्त है, जो केवल वही चाहती है जो उसे चाहिए और जो केवल वही कल्पना करती है जो उसे चाहिए, उसे खोजना चाहिए, यही वह है जिसे हमें समझने की कोशिश करनी चाहिए” (छांदोग्य उपनिषद, 3, 8, 11)। उच्च ज्ञान की खोज पर शास्त्रों के जोर ने परिणामस्वरूप औसत भारतीय परिवार के भीतर सीखने और शिक्षा को उच्च मूल्य

दिया है। हालाँकि अनुष्ठान अभी भी भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, लेकिन उच्च शिक्षा और ज्ञान पर भी महत्वपूर्ण जोर दिया जाता है। हिंदू धर्म के अनुसार, जीवन के चार लक्ष्य धर्म (नैतिकता/धार्मिकता), अर्थ (धन और कल्याण की खोज), काम (शारीरिक इच्छाओं की खोज), और मोक्ष (मुक्ति) हैं।

सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य अपने धर्म का पालन करना और मोक्ष की ओर प्रयास करना है। शेष दो लक्ष्य, भौतिक संपदा और शारीरिक इच्छाओं की खोज, मानव जीवन का हिस्सा हैं, लेकिन उन्हें धर्म और मोक्ष के परिप्रेक्ष्य में रखा जाना चाहिए। धर्म एक कठिन-से-परिभाषित अवधारणा है, लेकिन आम तौर पर इसे ब्रह्मांड के क्रम को बनाए रखने के रूप में समझा जा सकता है; एक सामाजिक सीमेंट जो समाज को एक साथ रखता है। महाभारत के अनुसार, लोग राज्य, राजा, गदा या गदा-धारक के माध्यम से नहीं बल्कि केवल धर्म के माध्यम से आपसी सुरक्षा प्राप्त करते हैं। धर्म को एक जैविक समाज के सिद्धांत और दृष्टिकोण के रूप में समझाया गया है, जिसमें इस जैविक समाज में भाग लेने वाले सभी सदस्य एक दूसरे पर निर्भर होते हैं और उनकी भूमिकाएँ पूरक होती हैं। धर्म को कर्तव्य, जिम्मेदारी और नैतिकता जैसी सामाजिक अवधारणाएँ दी गई हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति कई भूमिकाओं में स्थित है और उसे उन भूमिकाओं की ज़िम्मेदारियाँ निभानी चाहिए। यह व्यक्ति का धर्म होगा। भारत में जीवन जीने के तरीके में एक और अवधारणा अंतर्निहित है, जिसका पालन सचेतन या अवचेतन रूप से किया जाता है, वह है कर्म की अवधारणा। यह प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों और इन कार्यों के परिणामों को संदर्भित करता है। कर्म मानवीय कार्यों को कारण-प्रभाव प्रतिमान के भीतर देखता है, जो व्यक्ति द्वारा शब्दों और कर्मों के सावधानीपूर्वक चयन पर जोर देता है। मोक्ष, या मानवीय पीड़ा से मुक्ति, तब तक प्राप्त नहीं की जा सकती जब तक हम अपने कर्म के प्रति सचेत रहते हुए अपने धर्म के अनुसार जीवन नहीं जीते। हालाँकि, शास्त्र यह भी स्वीकार

करते हैं और पहचानते हैं कि मोक्ष एक ही जीवनकाल में प्राप्त नहीं हो सकता है और इसके लिए कई जन्म लग सकते हैं। यह कर्म और पुनर्जन्म के बीच वैचारिक संबंध को स्पष्ट करता है - प्रत्येक जीवनकाल में अपने धर्म के भीतर अपने कार्यों को बेहतर बनाने का मौका, और इसलिए मोक्ष की ओर प्रयास करना। एक बार मोक्ष प्राप्त हो जाने के बाद कोई और पुनर्जन्म नहीं होता। हालाँकि हम जिस धर्म में जन्म लेते हैं वह हमारी पसंद नहीं है, लेकिन मोक्ष प्राप्त करने का मौका हमारी पसंद है। यह हमारे सचेत निर्णयों और कार्यों के माध्यम से है कि हम अपने जीवन की गुणवत्ता निर्धारित करते हैं। इस प्रकार, कर्म केवल पुनर्जन्म का सिद्धांत नहीं है, न ही यह भाग्यवाद या पूर्वनियति को दर्शाता है, बल्कि यह व्यक्ति के अपने कार्यों के लिए आशा और जिम्मेदारी का वादा है। मोक्ष प्राप्त करना किसी तीसरी इकाई पर निर्भर नहीं है, बल्कि हमारे अपने कार्यों से निर्धारित होता है। यह स्वयं को जानने की शक्तिशाली इच्छा को स्पष्ट करता है। स्वयं की यह भारतीय अवधारणा प्रगतिशील शिक्षा की परंपरा के भीतर व्यक्ति की अवधारणा से बहुत अलग है। पश्चिमी समाजों में व्यक्ति के स्वतंत्र विकास के विपरीत, भारतीय स्वयं को बड़े पैमाने पर सामाजिक ताने-बाने के खिलाफ देखा जाता है। स्वयं का मूल्यांकन सामाजिक संदर्भ में किया जाता है, और समूह और समुदाय के प्रति उसके कर्तव्यों के संदर्भ में मूल्यांकन किया जाता है। हिंदू आदेश “अपने आप को जानो” (आत्मानम विधी) और सुकरात के आदेश “अपने आप को जानो” के बीच एक दिलचस्प अंतर पेन (1998) द्वारा किया गया है: इसके विपरीत, भारत में किसी व्यक्ति की पहचान उसकी त्वचा की सीमाओं तक सीमित नहीं होती बल्कि समुदाय में फैल जाती है– ऐसा समुदाय जिसमें न केवल परिवार और पड़ोसी शामिल होते हैं बल्कि जानवर और पूर्वजों की आत्माएं और देवता भी शामिल होते हैं...एक व्यक्ति अपना सच्चा स्वरूप बन जाता है जैसे ही वह सामुदायिक जीवन और उसकी परंपराओं की जीवंत

धारा में प्रवेश करता है। इस प्रकार, भारतीय विश्वदृष्टि में, स्वयं की परिभाषा अकेले व्यक्ति द्वारा नहीं की जाती है, बल्कि इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति का परिवार और समुदाय के साथ संबंधों और धर्म, कर्म और मोक्ष की अवधारणाओं के माध्यम से परिभाषित किया जाता है। आगे मैं जिन अवधारणाओं पर चर्चा करूंगा वे हैं ज्ञान और सीखना, और क्यों उन्हें पारंपरिक रूप से भारतीय समाज में प्राथमिकता दी गई है और उच्च मूल्य वाली वस्तुओं के रूप में देखा गया है। ज्ञान और सीखना हिंदू दर्शन के अनुसार, जीवन का उद्देश्य स्वयं के बारे में, ब्रह्मांड के बारे में सीखना दूसरे शब्दों में, इस तरह का ज्ञान अर्जन रटने पर आधारित नहीं है, बल्कि समझ पर आधारित है। उपनिषद में लिखा है, "सा विद्या या विमुक्तये," जिसका अर्थ है कि उचित ज्ञान केवल वही है जो मन को बंधन से मुक्त करता है और उसे मुक्ति की ओर ले जाता है। शिक्षा को सबसे शक्तिशाली चैनलों में से एक माना जाता था जिसके माध्यम से कोई व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता था, और इसका अंतिम लक्ष्य आत्म-नवीनीकरण और आत्म-विकास की प्रक्रिया के माध्यम से मानव चरित्र का उत्थान करना था।

प्राचीन भारतीय शिक्षक सभी प्रकार के ज्ञान के अर्जन पर बहुत जोर देते थे, और उनका मानना था कि किसी व्यक्ति को उसके पांडित्य, कार्य, आयु और धन के आधार पर सम्मान और आदर दिया जाना चाहिए। xliii. सीखने के लिए आदर्श स्थितियों को सबसे पहले और सबसे महत्वपूर्ण, सीखने की इच्छा और सत्य के प्रति प्रेम बताया गया है; सीखने की प्रक्रिया के चरणों में प्रतिदिन पाठ प्राप्त करना, उन्हें समझना, उन्हें स्मृति में बनाए रखना, उन पर चिंतन करना और निर्णय या विवेक का प्रयोग करना शामिल है। xliv. कई अलग-अलग प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बुद्धि की परिभाषा इस अवधारणा की अवधारणा में उल्लेखनीय समानताएं प्रदर्शित करती है, जैसा कि आज समझा जाता है। तब भी बुद्धि को विभिन्न प्रकार से परिभाषित

किया जाता था। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में एक प्रमुख विद्वान और सम्राट के सलाहकार कौटिल्य ने बुद्धि को कार्य करने की क्षमता माना था। नीति पर अपनी ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध पुस्तक अर्थशास्त्र में, कौटिल्य ने जांच, श्रवण, धारणा, स्मृति में धारण, चिंतन, विचार-विमर्श, अनुमान और इन निष्कर्षों पर दृढ़ पालन की विशेषताओं को बुद्धि के गुणों के रूप में सूचीबद्ध किया है। एक अन्य विद्वान विष्णुमित्र, प्रसिद्ध पंचतंत्र कथाओं के लेखक थे, जो छठी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले लिखी गई दंतकथाएँ थीं, जो बाद में अधिक आधुनिक ईसप की दंतकथाओं के लिए मॉडल बन गईं; इसकी कहानियाँ आज भी भारत में बचपन के लिखित और मौखिक साहित्य का एक मुख्य हिस्सा हैं। अपने लेखन में, विष्णुमित्र ने बुद्धि को उस शक्ति के रूप में परिभाषित किया जो हमें दुनिया पर नियंत्रण देती है। बुद्धि की ये विभिन्न अवधारणाएँ इसके कई आयामों के साथ स्पष्ट रूप से बुद्धि की धारणा से संबंधित हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी माना जाता था कि बुद्धि वंशानुगत और पर्यावरणीय दोनों कारकों से प्रभावित होती है। विशेष स्थान के रूप में विद्यालय जहाँ ज्ञान प्रदान किया जाता है और सीखने को प्रोत्साहित किया जाता है, भारत में 3,000 से अधिक वर्षों से अस्तित्व में हैं। भारतीय पौराणिक कथाओं और साहित्यिक ग्रंथों में साक्ष्य के रूप में 1000 ईसा पूर्व से पहले भी वन विद्यालय मौजूद थे। जब बच्चा बारह वर्ष का होता है, तब किए जाने वाले सामाजिक संस्कारों में से एक यह था कि जब बच्चा विद्यार्थी बन जाता है और जीवन के उस शैक्षिक चरण में प्रवेश करता है, जो गुरुकुल, गुरु या शिक्षक के वन या सामुदायिक विद्यालय में जिया जाता है। बीसवीं सदी के भारतीय दार्शनिक और शिक्षाविद कृष्णमूर्ति का मानना था कि ज्ञान को सीखने की प्रक्रिया को जीवित रखने के इरादे से आगे बढ़ाया जाना चाहिए। शिक्षा की समग्रता का उल्लेख करते हुए, उन्होंने एक संपूर्ण मानव को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में माना, जिसके पास न केवल अपने भीतर के अस्तित्व को

तलाशने, जांचने और समझने की क्षमता थी, बल्कि वह बाहरी रूप से अच्छा भी था। इस प्रकार, शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य यह सुनिश्चित करना होना चाहिए कि स्कूल बच्चे को बाहरी और आंतरिक दोनों तरह की अच्छाई के लिए तैयार करें। वर्तमान शिक्षा व्यक्तियों को अन्य चीजों के बारे में बहुत कुछ जानने में मदद करने पर अधिक ध्यान केंद्रित करती है, लेकिन वे स्वयं के बारे में बहुत कम जानते हैं। और फिर भी, भीतर की ओर यात्रा करके स्वयं के बारे में सीखना न केवल चंद्रमा पर जाने से कहीं अधिक कठिन यात्रा है, बल्कि इसे पुस्तकों और सिद्धांतों के मार्गदर्शन के बिना अकेले ही करना होगा।

शायद इसीलिए प्राचीन भारत में एकाग्रता, ध्यान, आत्मचिंतन और स्मृति का विकास महत्वपूर्ण शैक्षिक विचार थे। उपनिषद घोषणा करते हैं, "स्मृति के माध्यम से हम अपने पुत्रों को जानते हैं, स्मृति के माध्यम से हम अपने मवेशियों को जानते हैं।" स्मृति को मानव मन का एक सहज गुण माना जाता था। स्मृति की अवधारणा पर भी विभिन्न प्राचीन भारतीय ग्रंथों में विशेष रूप से चर्चा और परिभाषा की गई है और इसे पारंपरिक रूप से चार अलग-अलग संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के संदर्भ में देखा गया है: अवग्रह, जब संवेदी अंगों के संपर्क के माध्यम से बाहरी वस्तु का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है; इहा, जब हम अन्य ज्ञात वस्तुओं के साथ इसकी समानता और अंतर की तुलना करके वस्तु का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं; अवाया, जब हम ज्ञान की पुष्टि करना चाहते हैं; और धारणा, जब किसी वस्तु की स्थायी छाप हमारे ज्ञान में सहायता करती है xlvii। विविधता की अवधारणा पर चर्चा प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी प्रमुखता से दिखाई देती है और 200 ई. में शुरू हुआ, हिंदू धर्म के छह दर्शनों में से एक है, जैसा कि अध्याय में पहले चर्चा की गई है, और यह एक चिंतनशील दृष्टिकोण पर आधारित है जो भारतीय जीवन की एक विशेष विशेषता है। छह अलग-अलग दर्शन वास्तव में एक ही वास्तविकता की छह मौलिक व्याख्याएं

हैं और पूरक हैं। भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य मानव जीवन से दुख को खत्म करना है xlviii। यह उस दुख की प्रकृति और उसके पीछे की वास्तविकता को समझने की कोशिश करके ऐसा करना चाहता है। इस प्रकार, हिंदू दर्शन को ब्रह्मांड के बारे में एक सिद्धांत के बजाय जीवन और जीने की कला के रूप में अधिक देखा जा सकता है। वेदांत ब्रह्मांड की एकता को अद्वैत, अद्वैत के संदर्भ में समझाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है "दो नहीं।" यह हिंदू दर्शन का यह बहुत ही बुनियादी सिद्धांत है जो इस तथ्य को घर तक पहुंचाता है कि सतही स्तर पर सभी विविधता एक भ्रम या माया है यह सोच हिंदू विचार में समाहित है, और शायद यही कारण है कि देवी-देवताओं के कई रूपों के बावजूद हिंदू अभी भी मानते हैं कि केवल एक ईश्वर, एक वास्तविकता है, और हम सभी में उस वास्तविकता का कुछ अंश है। इस विश्वास का समर्थन दो सामान्य रूप से सुने जाने वाले संस्कृत वाक्यांशों द्वारा किया जाता है: तत्त्वम् असि (वह तुम हो) और वसुदेव कुटुम्बकम (संपूर्ण ब्रह्मांड मेरा परिवार है)। ध्यान देने योग्य एक और बात यह है कि भारतीय दृष्टिकोण में संश्लेषण की भावना भी है। यह बताता है कि कैसे भारतीय दर्शन पश्चिमी मानकों द्वारा परिभाषित शुद्ध दर्शन नहीं है, बल्कि धर्म, मनोविज्ञान, शिक्षा, नैतिकता, राजनीतिक सोच, सामाजिक विचार आदि से तत्वों का संश्लेषण करता है। यह भी प्राथमिक कारण है कि भारतीय नृत्य, कला, संगीत, शुद्ध विज्ञान, राजनीति, आदि हमेशा धर्म और दर्शन से निकटता से जुड़े रहे हैं, और भारतीय मन हमेशा एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ सहजता से जोड़ने में सक्षम रहा है। आध्यात्मिक दर्शन से निकटता से जुड़ा हुआ मन का वैज्ञानिक झुकाव था, दोनों का समर्थन प्राचीन भारतीय शास्त्रों द्वारा किया गया है। इसने प्राचीन भारत में न केवल दार्शनिकों और आध्यात्मिक नेताओं को उभरने दिया, बल्कि वैज्ञानिकों, खगोलविदों, इंजीनियरों, भूगोलवेत्ताओं, वैमानिकी इंजीनियरों, चिकित्सकों और शल्य चिकित्सकों,

गणितज्ञों आदि को भी उभरने दिया: गार्ग्य को वेद में 27 नक्षत्रों की गणना का श्रेय दिया जाता है; भारद्वाज ने 700 ईसा पूर्व में दुनिया की पहली औषधीय पौधों की संगोष्ठी की अध्यक्षता की; अत्रेय पुनर्वसु का उल्लेख महाभारत में चिकित्सा अकादमी शुरू करने के रूप में किया गया है; सुश्रुत, जिन्हें विश्व स्तर पर शल्य चिकित्सा के जनक के रूप में जाना जाता है, ने ईसाई युग से पहले ही राइनोप्लास्टी की तकनीक का आविष्कार किया था; कणाद छठी शताब्दी ईसा पूर्व में लिखी गई अपनी पुस्तकों में कार्य-कारण के नियम और परमाणु सिद्धांत को समझाने वाले पहले व्यक्ति थे; मेधातिथि, जिन्होंने अंकों को अरबों तक बढ़ाया, का उल्लेख ऋग्वेद में कई बार किया गया है; आर्यभट्ट को पांचवीं शताब्दी ईस्वी में बीजगणित के ज्ञान को आगे बढ़ाने में महान प्रगति करने के लिए जाना जाता है; इत्यादि। ये तो बस कुछ नाम हैं जो वेद और महाभारत जैसे ग्रंथों में मिलते हैं।

विभिन्न भारतीय शास्त्रों में ऐसे कई उदाहरण मिल सकते हैं जो यह भी दर्शाते हैं कि हिंदू धर्म एक ऐसा दर्शन है जो विभिन्न स्तरों पर विविधता को गले लगाता है। इसे दबाने के विभिन्न विदेशी प्रयासों के सामने, भारत की भावना विदेशी संस्कृति से कई तत्वों को अवशोषित करने के बाद लगातार पुनर्जीवित होती देखी गई है। उपनिषद द्वारा समर्थित सहिष्णुता और आत्मसात के मूल्य उस प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाते हैं जिससे भारतीय संस्कृति और समाज अन्य संस्कृतियों के तत्वों को आत्मसात करने में सक्षम हुए हैं। इस दृष्टिकोण ने भारतीय दिमाग को व्यापक दुनिया के संपर्क में आने के बाद व्यापक बनाने और बिना किसी पूर्वाग्रह के और भारत के किसी भी पारंपरिक मूल्यों को त्यागे बिना अन्य संस्कृतियों से कई उपयोगी विचारों को अवशोषित करने में सक्षम बनाया है। नैतिकता और कर्तव्य की अवधारणाओं के बारे में जागरूकता भारतीय लोगों के दैनिक जीवन में काफी हद तक अंतर्निहित है, और मैं इन मुद्दों को अगले अनुभाग में संबोधित करता हूं।

नैतिक विकास जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है, भारतीय दर्शन धर्म की अवधारणा में निहित है इस प्रकार, नैतिक विकास न केवल प्राचीन शास्त्रों में निर्धारित है, बल्कि शिक्षा के लिए एक महत्वपूर्ण लक्ष्य के रूप में भी प्राथमिकता दी गई है ताकि भारतीय समाज के नागरिकों द्वारा दैनिक जीवन में इसका अभ्यास किया जा सके। यह भारत में 3,000 से अधिक वर्षों के शैक्षिक इतिहास के दौरान शैक्षिक विचारों में देखा जा सकता है। नैतिकता का सबसे बड़ा उदाहरण भगवद गीता में प्रस्तुत किया गया है, जो भारतीय दर्शन का सबसे गहरा प्रतिपादन है और नैतिकता का ऐसा उदाहरण है कि यह भारत की सभी अदालतों में सत्य की शपथ लेने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली पुस्तक है। भगवद गीता महाकाव्य महाभारत के उन खंडों में से एक है जो 500 ईसा पूर्व और 300 ईसा पूर्व के बीच लिखे गए थे। हिंदू दर्शन में सिखाए गए नैतिक विकास की स्थिति का पता लगाने से पहले, यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यहाँ नैतिक विकास को विविध मानवीय इच्छाओं के बीच सामंजस्यपूर्ण और सही आचरण की प्राप्ति के संदर्भ में परिभाषित किया गया है। इसमें तर्क और तर्कसंगत संवाद के अलावा भावनाओं और आवेगों पर विचार करना शामिल है। भगवद गीता इस मायने में महत्वपूर्ण है कि यह एक नैतिक दुविधा का सामना करने वाले नायक का उदाहरण प्रस्तुत करती है। यह एक नैतिक संघर्ष को हल करने में तर्क की सीमाओं का एहसास कराता है, और मानवीय भावना के एक आयाम में निहित समाधान की ओर इशारा करता है जो अंतर्ज्ञान या आध्यात्मिकता के करीब हो सकता है। भगवद गीता में, अर्जुन खुद को कुरुक्षेत्र के युद्ध के मैदान में पाता है, जहाँ भारतीय पौराणिक कथाओं में सबसे शक्तिशाली युद्ध कौरवों और पांडवों के बीच वर्ष 1000 ईसा पूर्व हस्तिनापुर के सिंहासन के उत्तराधिकार के लिए लड़ा जाना है। हस्तिनापुर आधुनिक दिन नई दिल्ली के पास स्थित है। हालाँकि, अर्जुन, अपने स्वयं के विस्तारित परिवार के भीतर संघर्ष के परिणामस्वरूप, ऐसी

स्थिति में आ जाता है जहाँ उसे दुश्मन की रेखा पर अपने ही रिश्तेदारों से लड़ना पड़ता है। कुलीन योद्धा जाति, क्षत्रियों से संबंधित होने के परिणामस्वरूप, अर्जुन का कर्तव्य लड़ना है। फिर भी उसी समय वह अपने परिवार के प्रति अपने कर्तव्य को पहचानता है, और सवाल करता है कि वह उनसे कैसे लड़ सकता है और उन्हें मार सकता है। बताते हैं कि यह दुविधा दो परस्पर विरोधी, फिर भी समान रूप से बाध्यकारी, सामाजिक कर्तव्यों के कारण उत्पन्न होती है: अपने परिवार के बुजुर्गों के प्रति कर्तव्य और जिम्मेदारी की भावना, जिनका उसे विरोध करना चाहिए, और एक योद्धा के रूप में सामाजिक दायित्व (क्षत्रिय धर्म द्वारा परिभाषित) अपने समाज के प्रति अपने सामाजिक कर्तव्य के हिस्से के रूप में (अधिक सार्वभौमिक सनातन धर्म द्वारा परिभाषित)। दोनों को एक साथ सम्मानित नहीं किया जा सकता है, और अर्जुन को यह तय करना होगा कि उसे नैतिक रूप से किस धर्म का पालन करना चाहिए। ज़िग्लर मनोविज्ञान के पश्चिमी सिद्धांतों के संदर्भ में इस स्थिति का आकलन प्रदान करता है, जो नैतिक विकास पर कोहलबर्ग और गिलिगन दोनों के दृष्टिकोणों पर आधारित है। लॉरेंस कोहलबर्ग की नैतिकता की अवधारणा नैतिक गुणों की पारंपरिक पुरुष अभिव्यक्तियों से ली गई है और पियाजेटियन परंपरा में, व्यक्तिगत तर्कसंगतता, स्वायत्तता, स्वतंत्रता और स्वार्थ पर इसके जोर से चिह्नित है। दूसरी ओर, कैरोल गिलिगन का तर्क है कि कोहलबर्गियन मॉडल महिलाओं द्वारा अपनी नैतिक दुविधाओं की अवधारणा के लिए अनुपयुक्त है। महिलाओं का दृष्टिकोण देखभाल और अहिंसा की नैतिकता से चिह्नित है और दूसरों के लिए जुड़ाव और जिम्मेदारी की भावना को दर्शाता है। इस मामले में, अर्जुन स्पष्ट रूप से अपने रिश्तेदारों के साथ ही नहीं बल्कि अपने समाज के साथ जुड़ाव की भावना से उत्पन्न अपनी परस्पर विरोधी जिम्मेदारियों से अभिभूत है। युद्ध लड़ना या न लड़ना, किसी भी तरह का निर्णय उसके लिए समान रूप से दर्दनाक है। यह इस जीत न पाने

वाली स्थिति में है कि अर्जुन विलाप करता है, “हम नहीं जानते कि हमारे लिए क्या बेहतर है: कि हमें उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए या उन्हें हमें जीतना चाहिए... अगर हमने उन्हें मार दिया, तो हमें जीने की इच्छा नहीं करनी चाहिए” (भगवद गीता, 2-6)।यहाँ व्यक्तिगत स्वायत्तता और सामाजिक परिवेश के साथ हमारी अन्योन्याश्रयता के बीच संतुलन का एक अलग मुद्दा है। इस तरह की नैतिक दुविधा के समाधान में मन की स्थिति महत्वपूर्ण है। अर्जुन भावनात्मक और शारीरिक असंतुलन की स्थिति में है क्योंकि वह चिल्लाता है: “मेरे अंग कमजोर हो रहे हैं; मेरा मुंह सूख रहा है, मेरा शरीर कांप रहा है, और मेरे बाल खड़े हो रहे हैं। मेरी त्वचा जल रही है, और गांडीव धनुष मेरे हाथ से फिसल गया है। मैं खड़ा नहीं हो पा रहा हूँ; मेरा मन चक्कर खा रहा है” (भगवद गीता, 1-28, 29, 30)। यह असंतुलन उसके डर की भावना से लाया गया है, अपने जीवन के लिए नहीं बल्कि नैतिकता के पतन के लिए उसकी चिंता, समाज को एक साथ रखने वाले मानकों के लिए। इस स्तर पर, यह उनके गुरु भगवान कृष्ण हैं जो उनके सारथी के रूप में उन्हें सलाह देते हैं। उनकी सलाह है कि पहले समता की स्थिति हासिल करें - मन और शरीर की एक संतुलित और अनुशासित स्थिति। मन की यह संतुलित अवस्था ध्यान योग या ध्यान के योग के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। कृष्ण के अनुसार, जो व्यक्ति योग में स्थापित होता है, वह लड़ाई या उड़ान की अलार्म प्रतिक्रियाओं से ग्रस्त नहीं होता है, और परिणामस्वरूप गलत निर्णय लेने से पाप नहीं उठाता है। इस बिंदु पर, अर्जुन एक अधिक संतुलित और आध्यात्मिक मनःस्थिति में समझता है कि एक योद्धा के रूप में यह उसका धर्म है जिसका उसे पालन करना चाहिए। समाज में नैतिकता के विघटन को रोककर ब्रह्मांड के बड़े धर्म को पूरा करने के लिए उसे यह लड़ाई लड़नी चाहिए। एक मौलिक आध्यात्मिक सत्य का एहसास होता है, जो अर्जुन को बदल देता है, जो तब अपने नैतिक संघर्ष को हल करता है और

तर्कसंगतता और तर्क पर आधारित तर्क की प्रक्रिया से गुजरे बिना आत्मविश्वास से युद्ध के मैदान में लौटता है। ऐसा देखा जाता है कि अर्जुन ने तीन-आयामी प्रक्रिया के माध्यम से अपने आत्म को महसूस किया है जिसमें क्रिया, ज्ञान और भक्ति शामिल है। महाभारत में अर्जुन के चरित्र के अपने विश्लेषण में, कैट्ज़ ने अर्जुन का अध्ययन करने के महत्व की सराहना की है क्योंकि वह न केवल एक आदर्श नायक (समाज में अधिकारों के रक्षक और रक्षक के रूप में) के रूप में सामने आया है, बल्कि एक इंसान, एक आम आदमी भी है, जो नैतिक दुविधा को हल करने के प्रयास में भावनात्मक रूप से टूट जाता है, साथ ही एक आध्यात्मिक पक्ष वाला भक्त भी है। आश्वस्त करने वाला निष्कर्ष यह है कि एक व्यक्ति, एक इंसान, एक नायक और एक भक्त के गुणों को एक साथ रख सकता है। यदि कोई आध्यात्मिक अनुशासन धार्मिक हठधर्मिता के संदर्भ से बाहर शारीरिक कल्याण और नैतिक विकास को दर्शाता है, तो कोई कारण नहीं है कि इन विषयों को शिक्षा में शामिल नहीं किया जाना चाहिए, और वास्तव में ऐसा न करना गैर-जिम्मेदाराना होगा। ऊपर प्रस्तुत ग्रंथों और दार्शनिक अवधारणाओं पर चर्चा भारतीय समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में प्रस्तुत शिक्षा प्रणाली को समझने के उद्देश्य से की गई थी। हालाँकि, भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक जटिलता की समझ इसके भीतर मौजूद विविधता की कई परतों की चर्चा के बिना अधूरी है। इस प्रकार, पाठक को भारत में देखी और अनुभव की जा सकने वाली सांस्कृतिक विविधता की विशाल रेंज को प्रस्तुत करने के लिए विविधता पर एक खंड शामिल किया गया है। भारतीय समाज का विविध ताना-बाना पिछले कई हज़ार वर्षों में, भारत विशाल सांस्कृतिक और धार्मिक विविधता वाले राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में रहा है, और एक अरब से अधिक लोगों की आबादी वाले इस बहुजातीय, बहुधार्मिक, बहुभाषी देश को दुनिया के महान आश्चर्यों में से एक कहा जाता है। भारत में आमतौर पर सुनी जाने वाली कहावत

“विविधता में एकता” है, और यह एक ऐसा वाक्यांश है जो केवल आधुनिक भारत की पहचान तक ही सीमित नहीं है। लिखित दस्तावेजों में अतीत में विदेशी यात्रियों का वर्णन है जिन्होंने भारतीय समाज के बारे में इस तथ्य को देखा और दर्ज किया है: यात्री और इतिहासकार जैसे कि 315 ईसा पूर्व में मेगस्थनीज, 404-411 ई में फा-हियान, 630-644 ई में हुआन त्सांग, 1030 ई में अलबरूनी, 1288 ई में मार्को पोलो और 1325 ई में इब्न बटुआ। भारत की विविधता मुख्य रूप से उसके लोगों की विभिन्न नस्लीय, धार्मिक, भाषाई और जातीय पृष्ठभूमि का परिणाम है। भारत की जनसंख्या में छह प्रमुख नस्लीय तत्व सूचीबद्ध किए गए हैं: नेग्रिटो, प्रोटोऑस्ट्रलॉइड, मंगोलॉयड, भूमध्यसागरीय, पश्चिमी ब्रेसीसेफल्स और नॉर्डिक। पहले तीन समूह भारतीय उपमहाद्वीप के सबसे पुराने निवासी हैं मध्य भारत की जनजातियों में प्रोटो-ऑस्ट्रलॉयड समूह; हिमालय और भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्रों में मंगोलॉयड समूह। कहा जाता है कि अगले तीन नस्लीय समूह लगभग दो हज़ार से तीन हज़ार साल पहले भारत आए थे। भूमध्यसागरीय क्षेत्रों के लोग प्राचीन भारत की द्रविड़ संस्कृतियों से जुड़े थे: पश्चिमी ब्रैकीसेफ़ल विशेषताएँ उत्तरी और पश्चिमी भारत के जनसंख्या समूहों में देखी जाती हैं, और नॉर्डिक में इंडो-आर्यन शामिल थे जो सिंधु घाटी सभ्यता के बाद भारत आए थे।

कहा जाता है कि सिंधु घाटी सभ्यता लगभग 2300 ईसा पूर्व में विकसित हुई थी और इसके लोग पहले से ही एक बहुजातीय आबादी थे जैसा कि उत्खनन और कंकाल अवशेषों से पता चलता है। बहुत बाद में यूनानियों, सीथियन, पार्थियन, कुषाण और हूणों जैसे आप्रवासियों की लहरें आईं जो भारत में बस गए और भारतीय सामाजिक व्यवस्था में समाहित हो गए। इसके अलावा, भारत ने सदियों से विभिन्न धार्मिक पृष्ठभूमि से आबादी का पोषण किया है। भारत में आठ प्रमुख धार्मिक समुदायों के नाम हैं जिनमें प्रत्येक धर्म को धार्मिक सिद्धांतों और संप्रदायों में विभाजित किया

गया है। हिंदू भारत की आबादी का लगभग 82 प्रतिशत हिस्सा हैं और उन्हें मोटे तौर पर शैव (शिव के उपासक), वैष्णव (विष्णु के उपासक), शाक्त (देवी के विभिन्न रूपों के उपासक) और स्मार्त (तीनों के उपासक) में विभाजित किया जा सकता है, प्रत्येक समूह के आगे उपविभाग और संप्रदाय हैं। भारतीय मुसलमानों की आबादी लगभग 12 प्रतिशत है और वे मोटे तौर पर सुन्नी और शिया समुदायों में विभाजित हैं। भारतीय ईसाई भारत की कुल आबादी का लगभग 2.6 प्रतिशत हैं और वे कई संप्रदायों वाले चर्चों के साथ रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट में विभाजित हैं। भारत में अन्य धार्मिक समूह सिख (2 प्रतिशत), बौद्ध (0.7 प्रतिशत), जैन (0.4 प्रतिशत), पारसी (0.3 प्रतिशत) या पारसी लोग हैं जो आठवीं शताब्दी ईस्वी में फारस से भारत आए थे, और यहूदी (0.1 प्रतिशत), यहूदी धर्म के सदस्य हैं, जो 1,000 से अधिक पहले भारत में स्थापित हुआ था। हालाँकि 0.1 प्रतिशत बहुत कम संख्या लग सकती है, लेकिन भारतीय जनसंख्या के संदर्भ में यह अभी भी भारत में 1 मिलियन से अधिक यहूदी लोगों के बराबर होगा। भारत में कानूनी प्रणाली हिंदुओं, मुसलमानों और ईसाइयों के लिए अलग-अलग व्यक्तिगत कानून संहिताओं का समर्थन करती है, और इससे अल्पसंख्यक समूहों के अधिकारों की रक्षा करने में मदद मिलती है। भाषा भारत में महान विविधता का एक और स्रोत है। भारतीय संविधान में 22 आधिकारिक भाषाओं की सूची है, जो अभी भी एक न्यूनतम अनुमान है। दुबे एक उदाहरण देते हैं कि कैसे यह मनमानी आधिकारिक संख्या साहित्य अकादमी (साहित्यिक कार्यों को सम्मानित करने वाली एक राष्ट्रीय अकादमी) द्वारा वार्षिक साहित्यिक पुरस्कार प्रदान करने में व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करती है, जिसे डोगरी, मणिपुरी, कोंकणी, मैथिली, नेपाली और राजस्थानी जैसी गैर-सरकारी भाषाओं को अलग-अलग साहित्यिक भाषाओं के रूप में मान्यता देनी होती है। भारत में 227 मातृभाषाओं को मान्यता प्राप्त है, और लगभग 1,600 बोलियाँ हैं। भारत

की राष्ट्रीय भाषा हिंदी है, और इसमें भी कई बोलियाँ हैं जैसे अवधी, बघेली, भोजपुरी, बृज, बुंदेली, छत्तीसगढ़ी, हाड़ौती, मगही, मालवी, निमाड़ी, पहाड़ी, राजस्थानी, आदि। भारतीय जाति व्यवस्था एक अत्यंत जटिल घटना है जिसमें देश के विभिन्न हिस्सों में असंख्य वर्गीकरण प्रणालियाँ हैं। एक भारतीय के पास कई पहचान टैग होते हैं और पहचान धर्म, निवास स्थान, परिवार, एक जाति के साथ एक निर्धारित स्थिति, एक समूह के सदस्य के रूप में एक सामान्य पूर्वज से उतरना और कई पीढ़ियों पहले चली आ रही वंशावली पर आधारित होती है। परंपरागत रूप से, निर्धारित स्थिति के कारण चार वर्गों की पहचान की गई; ब्राह्मण पुजारी, क्षत्रिय योद्धा, वैश्य व्यापारी और व्यापारी, तथा शूद्र कारीगर। पाँचवाँ स्तर था, जो लोग झाड़ू लगाने, शौचालय साफ करने और इसी तरह के अन्य "अशुद्ध" व्यवसायों में लगे हुए थे, और इस समूह को अछूत कहा जाता था। हालाँकि "अस्पृश्यता" को कानूनी रूप से समाप्त कर दिया गया है, लेकिन देश के कई हिस्सों में इसका अभ्यास अनजाने या सचेत रूप से जारी है। यह वर्ग, जिसे अब अनुसूचित जाति के रूप में जाना जाता है, भारत की आबादी का लगभग 15 प्रतिशत हिस्सा है और कई विरोधी कार्रवाई नियमों के तहत संरक्षित है। एक अन्य वर्ग को अनुसूचित जनजाति कहा जाता है जो भारत की आबादी का लगभग 7 प्रतिशत प्रतिनिधित्व करता है और इसमें स्वदेशी जनजातियों के सदस्य शामिल हैं।लेकिन हालांकि सामाजिक व्यवस्था सैद्धांतिक स्तर पर स्पष्ट रूप से संगठित लगती है, वास्तविकता सरल से बहुत दूर है और कोई समान पदानुक्रमिक व्यवस्था नहीं है: एक क्षेत्र में एक प्रकार की रैंक की स्थिति को दूसरे क्षेत्र में बहुत अलग तरीके से देखा जा सकता है। विविधता का एक अन्य स्रोत क्षेत्रीय संस्कृतियाँ हैं। किसी निश्चित क्षेत्र के लोगों में भिन्न नस्लीय, धार्मिक, जातीय और भाषाई विशेषताएँ हो सकती हैं, लेकिन हजारों वर्षों के ऐतिहासिक अनुभवों, भक्ति कविता, कला और वास्तुकला, पारिस्थितिकी और क्षेत्र के पर्यावरण

के आधार पर एक समान संस्कृति हो सकती है। भारत के दक्षिण से एक प्रारंभिक ग्रंथ, 200 ई. में लिखा गया, थोलकाप्पियम, बताता है कि पहाड़ी क्षेत्रों, जंगलों, खेती के मैदानों, तटीय क्षेत्रों और रेगिस्तानी क्षेत्रों में समाज कैसे संगठित था। इस जबरदस्त विविधता के बावजूद, हिंदू धर्म भारत में प्रमुख धर्म है और इसने कई शताब्दियों के दौरान भारतीय समाज के लोकाचार को प्रभावित किया है। हालाँकि, यह बिल्कुल स्पष्ट है कि संस्कृति में अन्य धर्मों और परंपराओं के तत्व भी शामिल हैं। आज भारत में शिक्षा की अवधारणा को तभी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है जब कोई भारत के इतिहास के संदर्भ में शिक्षा के विकास को देखता है, शिक्षा और भारत के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दर्शन के बीच संबंध, और विदेशी आक्रमणों से प्रमुख सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रभावों का शिक्षा पर प्रभाव। भारत में औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा का दर्ज इतिहास 3,000 से 4,000 साल पुराना है। प्राचीन भारत में शिक्षा सीधे वैदिक दार्शनिक छंदों और संस्कृत के पुरातन रूप में संकलित शास्त्रों पर आधारित थी, जो 2000 ईसा पूर्व की शुरुआत में थी। 1835 में, विलियम एडम द्वारा किए गए एक ब्रिटिश सर्वेक्षण ने ब्रिटिश पहलों के लागू होने से पहले ही पूरे भारत में लोकप्रिय स्वदेशी शिक्षा की एक व्यापक प्रणाली के अस्तित्व की सूचना दी थी। रिपोर्ट के अनुसार, 1830 के दशक में अकेले बंगाल और बिहार के भारतीय राज्यों में 100,000 से अधिक स्कूल मौजूद थे, जिसके परिणामस्वरूप यह तथ्य सामने आया कि लगभग हर गाँव का अपना स्कूल था। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में भी शिक्षा की यह व्यापक प्रणाली जाति और धार्मिक भेदभाव से अपेक्षाकृत मुक्त थी और बड़ी संख्या में गाँवों में स्कूल थे। लिखित अभिलेखों से पता चलता है कि 250 ईसा पूर्व से लेकर 250 ईस्वी तक पूरे भारत में अकुशल श्रमिकों को छोड़कर सभी के लिए मुफ्त शिक्षा प्रदान की जाती थी। सदियों से, भारत विदेशी विजयों और शासनों की एक श्रृंखला के अधीन रहा, सबसे

महत्वपूर्ण रूप से, एशिया माइनर और फारस से इस्लामी आक्रमण और यूरोप से ईसाई उपनिवेशवादी। इसके बाद, इन विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रभावों के तहत बहुमुखी शिक्षा की कई प्रणालियाँ लागू की गईं। भारत में लगभग 3,000-4,000 वर्षों की औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा के दौरान, शिक्षा के ऐतिहासिक विकास का पता हिंदू/वैदिक, बौद्ध, मुस्लिम, ब्रिटिश और स्वतंत्रता के बाद के काल के अलग-अलग और कभी-कभी अतिव्यापी प्रभावों के माध्यम से लगाया जा सकता है। इस अध्याय में, मैंने शिक्षा के पहलुओं जैसे दर्शन, पाठ्यक्रम और महत्वपूर्ण नीतियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है क्योंकि वे विभिन्न ऐतिहासिक युगों में दिखाई दिए ताकि भारत में शिक्षा के विकास की प्रक्रिया की स्पष्ट तस्वीर मिल सके। ये विवरण भारत के ब्रिटिश उपनिवेशीकरण से पहले, उसके दौरान और उसके बाद शिक्षा प्रणाली पर विभिन्न सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दर्शन के व्यापक प्रभाव को समझने में सहायता करते हैं। यह ज्ञान भारत में शिक्षा के वर्तमान ढांचे में जटिलताओं की परतों को बेहतर ढंग से समझने में भी सहायता करता है, और उत्तर-औपनिवेशिक प्रतिमान के भीतर इसके अध्ययन को अधिक सटीक रूप से स्थापित करता है। शिक्षा पर प्राचीन हिंदू ग्रंथों और शास्त्रों का प्रभाव

प्राचीन भारत के हिंदू ग्रंथों और शास्त्रों ने भारत में सबसे पहले दर्ज की गई शिक्षा प्रणाली का आधार बनाया, जो लगभग 2000 ईसा पूर्व से 700 ईस्वी तक हावी रही। उस समय शिक्षा मुख्य रूप से वेद और उपनिषद की शिक्षाओं पर आधारित थी, और इसकी विशेषता गहन दार्शनिक चिंतन, आध्यात्मिक और धर्मनिरपेक्ष शिक्षा और बौद्धिक अन्वेषण थी। प्राचीन भारतीय ग्रंथों और शास्त्रों में से कुछ की मुख्य विशेषताओं का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। प्रारंभिक वैदिक चरण के दौरान अधिकांश लोगों के लिए शिक्षा उपलब्ध थी, लेकिन जाति व्यवस्था विकसित होने के साथ ही यह अधिक भेदभावपूर्ण हो गई। लगभग 2000 ईसा पूर्व के वैदिक ग्रंथ

अस्तित्ववादी दर्शन पर सबसे पहले ज्ञात लेखन हैं; लगभग तीसरी या चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के कौटिल्य के लेखन राजनीति और शिक्षा का विस्तृत अध्ययन प्रदान करते हैं; ईसाई युग के शुरुआती वर्षों में लिखे गए मनु के लेखन को भारत में पहली कानून की किताबें माना जाता है; और महान भारतीय महाकाव्यों, महाभारत और रामायण में उस समय के सामाजिक मानदंडों, शिक्षाओं और शिक्षा के विस्तृत संदर्भ शामिल हैं। मनु और कौटिल्य द्वारा सुझाए गए पाठ्यक्रम सामग्री क्षेत्रों के संदर्भ में विशिष्ट विवरण अच्युतन और केय के कार्यों में पाए जा सकते हैं। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान पाणिनि ने चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में संस्कृत व्याकरण लिखा था, और इसे संगठित व्याकरण का सबसे पुराना ज्ञात रूप माना जाता है। यह पाणिनि के व्याकरण की खोज थी जिसने पश्चिम में ध्वनिविज्ञान के अध्ययन को जन्म दिया। वेद के अध्ययन के अलावा, प्राचीन भारत में कई अन्य विषयों को एक विशिष्ट पाठ्यक्रम में शामिल किया गया था। ऋग्वेद, वेद की पहली पुस्तक और सबसे पुरानी ज्ञात रचनाओं में इस बात पर जोर दिया गया है कि कई विषयों के अध्ययन के बाद ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, और व्यास आर.एन. ने 1500 ईसा पूर्व में एक विशिष्ट वैदिक पाठ्यक्रम में सामग्री क्षेत्रों की एक व्यापक सूची प्रदान की है। इनमें से कुछ विषय इस प्रकार हैं:

शिक्षा: वेदों का उचित उच्चारण और पाठ करना। कल्प: यज्ञ के नियम। व्याकरण: व्याकरण और व्युत्पत्ति का अध्ययन। छंद: रचना, छंद और छन्द का ज्ञान। ज्योतिष: प्रकृति के रहस्यों को वैज्ञानिक तरीके से समझना। तर्क, जिसमें तर्क भी शामिल है। विज्ञान: चिकित्सा, खगोल विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, इत्यादि। तत्वमीमांसा: जिसके द्वारा वास्तविकता की अवधारणा को अनंत माना जाता है:

“पुरुष एव इदं सर्वं यत भूतं यत च भव्यम” (वास्तविकता वह सब है जो है, था या होगा)।

इन विषय क्षेत्रों के अलावा, वैदिक शिक्षा ने लोगों को बढ़ई, कारीगर, चिकित्सक, किसान, कवि, इत्यादि जैसे अपने व्यवसायों में कुशल बनने के कौशल भी सिखाए। उस समय कोई वर्ग या लिंग भेद नहीं था, और तीसरे वैदिक ग्रंथ, यजुर्वेद के अनुसार, वैदिक ज्ञान किसी को भी दिया जा सकता था। वैदिक साहित्य में ऐसे कई उदाहरण हैं जो उच्च शिक्षा में महिलाओं की भागीदारी का वर्णन करते हैं, और अपाला, पौलोमी, गार्गी, उर्वशी और देवयानी कई अन्य नामों में से कुछ हैं। यह आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि हिंदू धर्म देवताओं और मनुष्यों में पुरुष और महिला ऊर्जा के समान महत्व को पहचानता है, और देवी का स्वरूप हिंदू धर्म में एक शक्तिशाली स्थान रखता है। सभी के लिए शिक्षा के रूप में वैदिक शिक्षा की प्रगतिशील प्रकृति ने सामाजिक और आर्थिक बाधाओं को दूर किया और समाज में एक दुर्लभ लिंग-समानता को निहित किया। संगीत वैदिक शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पहलू था। कई धुनों की खोज की गई और ऐसा कहा जाता है कि सात स्वर या नोट जिन पर भारतीय संगीत आधारित है, वैदिक काल में ज्ञात थे। चिकित्सा विज्ञान विकसित किया गया था और छात्रों को व्यवस्थित रूप से पढ़ाया जाता था और वेद में बुखार, कुष्ठ रोग, पीलिया, जलोदर, खांसी, गंजापन, सर्पदंश और उन्माद जैसी स्थितियों या बीमारियों के लिए हर्बल दवाओं का उल्लेख है। हालाँकि, बाद की शताब्दियों में उच्च शिक्षा का व्यवसाय पुरोहिती की आवश्यकताओं से अधिक चिंतित हो गया क्योंकि वैदिक समाज में बलि के अनुष्ठानों को बढ़ती प्रमुखता मिलनी शुरू हो गई। उपनिषद वे शास्त्र हैं जो वेद के बाद लगभग 800 ई.पू. में लिखे गए थे। इन शास्त्रों ने भारतीय शिक्षा को भी बहुत प्रभावित किया है। जांच-पड़ताल, मानसिक

साहस और किसी भी हठधर्मिता के प्रति सहिष्णुता के बिना चीजों के बारे में सच्चाई का पता लगाने के जुनून से ओतप्रोत उपनिषद ने आंतरिक वास्तविकता के एक पहलू के रूप में बाहरी दुनिया के अध्ययन को प्रोत्साहित किया; जादू और अलौकिक तत्वों में रुचि को हतोत्साहित किया गया। सामाजिक और आध्यात्मिक गतिविधियों में सामंजस्य स्थापित करने का निरंतर प्रयास किया गया। सीखने की प्रक्रिया अन्वेषण की भावना से भरी हुई थी और शिक्षकों और छात्रों दोनों को चर्चा, प्रवचन और चिंतनशील संवाद के माध्यम से सत्य की खोज में सहयात्री माना जाता था। पाठ्यक्रम का जोर आत्म-साक्षात्कार और व्यक्तिगत आत्म और परम आत्म के ज्ञान पर था। व्यास आर.एन. कम से कम 24 विभिन्न विषयों का वर्णन करते हैं, जिनका अध्ययन उपनिषद द्वारा परिभाषित एक शैक्षिक प्रणाली के भीतर एक पाठ्यक्रम में शामिल किया गया था।

800 ईसा पूर्व के कुछ विषय क्षेत्र

जैसा कि ऊपर से स्पष्ट है, वैदिक और उपनिषदिक ग्रंथों पर आधारित शिक्षा केवल धार्मिक अध्ययन तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि वास्तव में इसमें एक पाठ्यक्रम शामिल था जो कई अलग-अलग विषय क्षेत्रों और विचारों के अध्ययन का समर्थन करता था। उस समय यह दृढ़ विश्वास था कि व्यावहारिक उपयोगिता के साथ-साथ आध्यात्मिक उत्थान पर विषयों के संयोजन का अध्ययन एक संतुलित व्यक्तित्व के विकास की ओर ले जाएगा। चीजों के बारे में सच्चाई का पता लगाने के लिए उपनिषदिक जुनून एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उपयोग करता है, अर्थात तर्क और

प्रश्न करने का विज्ञान, जैसा कि प्रश्निन (प्रश्नकर्ता), अभि-प्रश्निन (प्रतिप्रश्नकर्ता), प्रश्न-विवेक (उत्तर देने वाला) जैसे शब्दों के लगातार उपयोग से अनुमान लगाया जा सकता है। पाठ्यक्रम सामग्री को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया था- प्रेयस (सांसारिक सुख और उपयोगिता की ओर ले जाने वाला), और श्रेयस (सांसारिक दुख से मुक्ति की ओर ले जाने वाला)। इतिहास में लगभग इसी समय सामाजिक वर्गों की अवधारणा तत्कालीन सामाजिक प्रभावों के तहत उभरने लगी थी, लेकिन उन्हें समाज के अलग-अलग अंगों के रूप में पहचाना गया था। शिक्षा मुख्य रूप से ब्राह्मण (पुजारी), क्षत्रिय (योद्धा) और वैश्य (व्यापारी और व्यापार) जातियों के छात्रों के लिए खुली थी। वेद का अध्ययन उपरोक्त सभी के लिए सामान्य था, और उसके बाद छात्रों को अध्ययन के व्यवसाय-संबंधी क्षेत्रों में प्रशिक्षित किया जा सकता था। इस प्रकार, शूद्र (श्रमिक और कारीगर) जाति के सदस्यों को छोड़कर अधिकांश लोगों के लिए आध्यात्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों तरह की शिक्षा उपलब्ध थी, जो हालांकि नीच नौकरियों में प्रशिक्षित हो सकते थे, लेकिन उन्हें धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा से वंचित रखा गया था। प्राचीन शास्त्रों और ग्रंथों पर अपने निष्कर्षों को आधार बनाते हुए, अल्तेकर ने प्राचीन भारत में शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों को धर्मनिष्ठता की भावना का संचार, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व विकास, नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों का समावेश, सामाजिक दक्षता को बढ़ावा देना और राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण के रूप में संक्षेपित किया। उपनिषद काल में, बनारस (आधुनिक वाराणसी) शिक्षा का एक प्रमुख केंद्र बन गया और बनारस के राजाओं में से एक अजातशत्रु का उल्लेख किया गया है, जो उपनिषदों में दार्शनिक के रूप में वर्णित हैं। ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी में, बनारस संभवतः पूर्वी भारत में शिक्षा का सबसे प्रसिद्ध केंद्र था, और भारत में बौद्ध धर्म और इस्लाम के उदय के साथ एक प्रमुख केंद्र बना रहा। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय आज भी शिक्षा का एक प्रमुख केंद्र है और

कई लोगों द्वारा इसे भारत के सबसे पुराने मौजूदा विश्वविद्यालयों में से एक माना जाता है। पारंपरिक वैदिक शिक्षा प्रदान करने वाले स्कूल आज भी भारतीय समाज में मौजूद हैं, लेकिन मुख्यधारा की शिक्षा प्रणाली के हिस्से के रूप में नहीं। ये स्कूल उन जगहों पर पाए जा सकते हैं जो आमतौर पर मंदिरों से जुड़े होते हैं और जहाँ हिंदू पुजारी बनने के लिए प्रशिक्षण लेने वाले छात्र जाते हैं। मंदिर के स्कूलों के अलावा, कई प्रमुख विश्वविद्यालय और केंद्र हैं जो वैदिक शिक्षा और संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन में पाठ्यक्रम प्रदान करते हैं। वैदिक शिक्षा में हाल ही में रुचि ने प्राचीन गुरुकुल और अन्य वैदिक स्कूलों की अवधारणा के आधार पर स्कूल शुरू करने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी प्रायोजित पहलों को भी जन्म दिया है।

शिक्षा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत में शिक्षा प्रणाली पर बौद्ध धर्म का प्रभाव लगभग 600 ईसा पूर्व और 700 ईस्वी के बीच हुआ। एक धर्म के रूप में बौद्ध धर्म हिंदू धर्म की एक शाखा के रूप में विकसित हुआ। हालाँकि बौद्ध दर्शन प्राचीन हिंदू दार्शनिक विचारों जैसे धर्म और कर्म में अंतर्निहित है, लेकिन इसने उस कठोरता और हठधर्मिता को अस्वीकार कर दिया जो इतिहास में उस समय तक हिंदू धर्म पर हावी होने लगी थी। इस प्रकार, बौद्ध धर्म में प्रमुख परिवर्तन अनुष्ठानों, समारोहों और जाति भेदभाव की अस्वीकृति थी, और महिलाओं सहित किसी भी व्यक्ति को शिक्षा उपलब्ध कराई गई थी, जो सीखना चाहता था। शिक्षा वेद, उपनिषद, साथ ही धम्मपद जैसे बौद्ध धर्मग्रंथों पर आधारित रही। चीन और ग्रीस सहित दुनिया भर के विद्वानों के लिखित रिकॉर्ड हैं, जो उस समय भारत में स्थापित तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों में अध्ययन करने आए थे। उच्च शिक्षा के इन शक्तिशाली केंद्रों की प्रतिष्ठा ऐसी थी कि दुनिया भर के विद्वानों की एक लंबी प्रतीक्षा सूची थी और प्रवेश दर केवल 20 प्रतिशत थी। नालंदा में अध्ययन के पाठ्यक्रम के बारे में चीनी विद्वान इत्सिंग के लिखित अभिलेखों से संकेत मिलता

है कि व्याकरण के अध्ययन पर बहुत ध्यान दिया जाता था और व्याकरण अन्य सभी अध्ययनों का आधार था। वह ज्ञान या विद्या के पाँच निकायों का वर्णन करता है: शब्दविद्या (व्याकरण और कोशकला); शिल्पस्थानविद्या (कला); चिकित्साविद्या (चिकित्सा); हेतुविद्या (तर्क); और अध्यात्मविद्या (सार्वभौमिक आत्मा का विज्ञान, या दर्शन)। मुख्य पाठ्यक्रम संस्कृत व्याकरण के विस्तृत अध्ययन पर आधारित था, जो तर्कशास्त्र और अंततः तत्वमीमांसा और दर्शन की ओर ले गया। बौद्ध धर्म की स्थापना एक हिंदू राजकुमार, सिद्धार्थ ने की थी, जो बाद में गौतम बुद्ध के रूप में जाने गए। एक धर्म के रूप में, यह कुछ समय के लिए भारत के अधिकांश हिस्सों में फला-फूला, खासकर सम्राट अशोक और मौर्य वंश के शासनकाल के दौरान। अशोक को भारत से परे एशिया के अन्य हिस्सों और पूर्व में जापान तक इसके प्रसार का श्रेय दिया जाता है। हालाँकि बौद्ध धर्म भारत में 1,500 वर्षों तक एक धर्म के रूप में जारी रहा, लेकिन इसे भारत में स्थायी सफलता नहीं मिली, जहाँ हिंदू धर्म प्रमुख शक्ति थी और है; परिणामस्वरूप, बौद्ध संप्रदायों की संख्या धीरे-धीरे कम होती गई। अल्तेकर ने चीनी विद्वान हुआन त्सांग की रचना लाइफ एंड ट्रैवल्स का उल्लेख किया है, जिन्होंने ऊपर बताए गए कुछ बौद्ध विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया था, और उल्लेख किया है कि हालाँकि सातवीं शताब्दी ईस्वी तक भारत में बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था, फिर भी कई मठ बौद्ध शिक्षा के समृद्ध केंद्र बने रहे। आज, भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्रों के मठों में बौद्ध शिक्षा दी जाती है, जो तिब्बत, भूटान और म्यांमार जैसे बौद्ध बहुल देशों के सबसे करीब हैं, साथ ही धर्मशाला में भी, जो दलाई लामा का घर है, जो तिब्बत से भारत में निर्वासन में हैं। बौद्ध धर्म का अभी भी कई अन्य एशियाई देशों जैसे श्रीलंका, थाईलैंड, कंबोडिया, वियतनाम और जापान में सक्रिय रूप से और बड़े पैमाने पर अभ्यास किया जाता है।

शिक्षा पर इस्लामी नियमों का प्रभाव

भारत में शिक्षा प्रणाली पर इस्लामी प्रभाव 1000 ई. से 1700 ई. के बीच के वर्षों में प्रबल रहा। इस अवधि में फारस और एशिया माइनर से भारत में कई इस्लामी आक्रमणों की शुरुआत हुई और राजशाही की स्थापना हुई जैसे ई. 1001 में महमूद गजनवी, ई. 1175 में मुहम्मद गौरी, ई. 1193 में दिल्ली को इस्लामी सत्ता का केंद्र बनाने वाले कुतुबुद्दीन ऐबक, ई. 1200 में प्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय को नष्ट करने वाले भक्तियार खिलजी, ई. 1236 में दिल्ली की पहली महिला शासक बनीं रजिया सुल्तान और ई. 1323 में सत्ता में आए मुहम्मद बिन तुगलक। इस अवधि का समापन ई. 1526 में बाबर द्वारा मुगल वंश की स्थापना के साथ हुआ, जो अगले 300 वर्षों तक सत्ता में रहा। इस अवधि के दौरान, भारत में शिक्षा की प्रणाली इस्लामी स्कूलों के विकास द्वारा चिह्नित की गई थी लिंग पृथक्करण और भेदभाव एक विशिष्ट विशेषता है जो इस्लाम के प्रभाव में भारतीय समाज और शिक्षा में हुई। महिलाओं को सार्वजनिक रूप से देखा या सुना नहीं जा सकता था, और पर्दा प्रथा के कार्यान्वयन के साथ, भारत के मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में महिलाओं का जीवन और भी अधिक सुरक्षित और घर से घिरा हुआ हो गया, साथ ही सामान्य रूप से शिक्षा के अधिकार कम होते गए, जैसा कि कुछ सामाजिक जातियों के सदस्यों के मामले में था। शैक्षिक दर्शन ने अनुरूपता की वकालत की और हिंदू और बौद्ध शैक्षिक दर्शन में मूल्यवान आलोचनात्मक सोच या अटकलों को हतोत्साहित किया। हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के बीच एक स्वस्थ मुठभेड़ का विकास उन राजाओं और सम्राटों के शासनकाल में संभव हुआ जो इन संस्कृतियों के मिलन को बढ़ावा देने के इच्छुक थे। शिक्षा के प्रसार में कुछ प्रमुख नाम बारहवीं और चौदहवीं शताब्दी में खिलजी और तुगलक राजवंशों के शुरुआती मुस्लिम सम्राट हैं; तेरहवीं शताब्दी की शुरुआत में रजिया सुल्ताना; और सोलहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मुगल वंश के सम्राट

अर्थात् हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर। दरअसल, इन बादशाहों के शासनकाल में शिक्षा को हर नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था और स्वदेशी शिक्षा को बहुत बढ़ावा दिया जाता था। तेरहवीं शताब्दी की शुरुआत में जब रजिया सुल्तान सत्ता में आईं, तब दिल्ली में एक कॉलेज अस्तित्व में था। रजिया खुद शिक्षा की संरक्षक और एक शिक्षित महिला थीं और उनके संरक्षण में, साथ ही नासिर-उद-दीन (1246-1256) और बलबन (1266-1287) के संरक्षण में, दिल्ली में साहित्यिक समाज फले-फूले; तेरहवीं शताब्दी के अंत तक दिल्ली शिक्षा का एक बड़ा केंद्र बन गया था और आगे भी बना रहा। अन्य मुस्लिम शासकों के शासन में शिक्षा के उच्च मानकों ने भी कई गाँवों में स्कूल और कॉलेज स्थापित किए। शिक्षा के कुछ प्रमुख केंद्र फ़िरोज़ाबाद, बदायूं, आगरा, जौनपुर, बीजापुर, गोलकुंडा, मालवा, मुल्तान, बंगाल आदि थे। हुमायूँ, जिन्होंने 1530 से 1556 तक शासन किया, दूसरे मुगल सम्राट और एक कुशल विद्वान थे जिन्होंने दिल्ली में एक कॉलेज और पुस्तकालय बनवाया था। वास्तव में उनकी मृत्यु उनके पुस्तकालय की बालकनी से गिरकर हुई थी। हुमायूं के बेटे अकबर (1556-1605) को न केवल इस्लामी साहित्य और कला बल्कि हिंदू ग्रंथों, कलाओं और संगीत की शिक्षा और सीखने के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए जाना जाता है। अकबर के शासनकाल के दौरान, रामायण, महाभारत और अथर्ववेद जैसे हिंदू साहित्य का फारसी में अनुवाद किया गया था। उन्होंने दीन-इलाही नामक एक नया लेकिन अल्पकालिक धर्म शुरू करने की भी कोशिश की, जिसमें हिंदू धर्म और इस्लाम के आध्यात्मिक पहलुओं का मिश्रण था। ऐसे अन्य मुस्लिम राजा और शासक थे जिनके अधीन मुस्लिम प्रभाव प्रबल थे, जिसमें फ़ारसी कविता, संगीत, नृत्य और कला को बहुत महत्व दिया गया; फ़ारसी या फ़ारसी को भारत में दरबार की भाषा बनाया गया; और अरबी और फ़ारसी भाषाओं के शिक्षण में वृद्धि हुई। हिंदू और मुस्लिम दोनों छात्रों को प्रोत्साहित करने वाले स्कूलों में,

हिंदी और फ़ारसी के मिश्रण से उर्दू के रूप में जानी जाने वाली एक नई भाषा उभरी। मुसलमानों की पवित्र पुस्तक कुरान का अध्ययन देश के जीवन और संस्कृति में प्रवेश कर गया। शिक्षा को मुख्य रूप से तीन आर, धार्मिक शिक्षा और साहित्य, भाषा, व्याकरण, तर्क, तत्वमीमांसा, विज्ञान और राजनीति जैसे अन्य विषयों के अध्ययन द्वारा परिभाषित किया गया था (परांजोती, 1969)। आज भारत में इस्लामी शिक्षा मकतबों और मदरसों तक ही सीमित है, जो मस्जिदों द्वारा संचालित धार्मिक स्कूल और कॉलेज हैं, और इस्लामी अध्ययन के केंद्रों में हैं। हिंदू धर्म के बाद, इस्लाम भारत में दूसरा सबसे बड़ा धार्मिक समूह है, जिसमें भारतीय आबादी का लगभग 12 प्रतिशत मुस्लिम है।

शिक्षा पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रभाव

लगभग 1600 ई. से भारत में फ्रांसीसी, पुर्तगाली, डच और ब्रिटिश व्यापारियों और बाद की व्यापारिक कंपनियों की उपस्थिति ने शिक्षा प्रणाली पर यूरोपीय और ईसाई प्रभावों की शुरुआत की। इस चरण में भारत में मिशनरी स्कूलों का उदय हुआ, जिनमें मुख्य रूप से रोमन कैथोलिक मान्यताएँ और व्यक्तिगत मोक्ष पर ईसाई धर्म का ध्यान केंद्रित था। बाद में, जब अंग्रेजों ने पूरे भारत पर वर्चस्व और नियंत्रण हासिल कर लिया, तो ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेंट रूपों के साथ-साथ आधुनिक यूरोप के वैज्ञानिक तरीकों पर आधारित शिक्षा को लागू किया गया। ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन के प्रभाव में, पश्चिमी मूल्य भारत के बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों में व्याप्त हो गए (सैनी, 2000)। औपनिवेशिक भारत में शिक्षा पर ब्रिटिश प्रभाव का महत्वपूर्ण मोड़ ब्रिटिश प्रशासन द्वारा समर्थित सभी स्कूलों में शिक्षा की भाषा के रूप में अंग्रेजी को अपनाना था। सर वॉरेन हेस्टिंग्स, लॉर्ड मैकाले और भारत के लगभग हर वायसराय ने ब्रिटिश शासन के तहत भारत में शिक्षा को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत में 1781 से 1893 तक अंग्रेजी शिक्षा के इतिहास

का विस्तृत और व्यापक विवरण महमूद (1895) द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक दस्तावेज़ में मिलता है। इसमें संसदीय पत्रों, सरकारी रिपोर्टों, प्रेषणों, मिनटों और सरकार के प्रस्तावों के अंशों का एक दुर्लभ कालानुक्रमिक विवरण शामिल है। उन्नीसवीं सदी के ब्रिटिश भारत में कुछ अधिक महत्वपूर्ण शैक्षिक पहलों पर नीचे प्रकाश डाला गया है:

1813: संस्कृत सीखने को इसके उत्कृष्ट आचार-विचार और कानून संहिताओं के लिए प्रोत्साहित किया जाना था।

1815: शिक्षा के कॉलेज शुरू करने के लिए मिशनरी आंदोलन शुरू हुए।

1829: औपनिवेशिक भारत में आधिकारिक कामकाज की भाषा के रूप में अंग्रेजी को अपनाया गया।

1835: अंग्रेजी और ओरिएंटल शिक्षा के तुलनात्मक लाभों के बीच बहस के परिणामस्वरूप लॉर्ड मैकाले का मिनट आया, जिसने भारत के स्कूलों में अंग्रेजी को शिक्षा की भाषा घोषित किया। 1844: लॉर्ड हार्डिंग ने उन मूल भारतीयों को रोजगार देने का समर्थन किया जो ब्रिटिश द्वारा प्रशासित शिक्षा प्रणाली में सफल रहे थे। 1854: गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक ने स्कूलों में शिक्षा में धार्मिक तटस्थता की घोषणा की। मिशनरियों ने इसे बहुत नापसंद किया और इसके बाद मिशनरी स्कूलों में हिंदू छात्रों का धीरे-धीरे धर्मांतरण किया गया। 1857: लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज पर कलकत्ता, मद्रास और बॉम्बे विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। संस्कृत, अरबी और फ़ारसी भाषाओं को पेश किए जाने वाले विषयों में शामिल किया गया, लेकिन केवल तभी जब वे धार्मिक तटस्थता के अनुरूप हों। 1882: शिक्षा के विषय पर रिपोर्ट करने के लिए भारतीय शिक्षा आयोग की स्थापना की गई। सदस्यों में यूरोपीय और मूल भारतीय प्रतिनिधि दोनों शामिल थे। 1889: भारतीय शिक्षा

आयोग ने प्रस्ताव दिया कि स्कूलों में नैतिक शिक्षा के लिए पाठ्यपुस्तकें शामिल की जाएँ और फिर भी धार्मिक तटस्थता के मामले में धर्मनिरपेक्ष रहें।

1892: इस समय तक ब्रिटिश भारत में प्रशासन द्वारा कुल 144 कॉलेज स्थापित किए जा चुके थे। उनमें से 108 उदार कला महाविद्यालय, 28 लॉ कॉलेज, 4 मेडिकल कॉलेज और 4 इंजीनियरिंग कॉलेज थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक युग की एक और विरासत पाठ्यपुस्तक-केंद्रित शिक्षाशास्त्र है जो भारत में शिक्षा पर हावी होने लगी और जारी है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में, औपनिवेशिक प्रशासकों ने भारत में शैक्षिक प्रणाली के लिए एक नया नौकरशाही प्रारूप लागू किया। नई प्रणाली एक नौकरशाही द्वारा शासित होगी जो स्कूली शिक्षा के सभी पहलुओं को कड़ाई से नियंत्रित करेगी, जिसके उद्देश्य थे (1) भारतीय बच्चों और युवाओं को यूरोपीय दृष्टिकोण से परिचित कराना और उन्हें औपनिवेशिक प्रशासनिक सेवाओं के निचले और मध्यम स्तर पर काम करने के लिए तैयार करना; (2) शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी पर जोर देना और (4) पदोन्नति के लिए छात्रों की पात्रता निर्धारित करने के लिए मूल्यांकन उपकरण के रूप में केंद्रीकृत परीक्षाओं का उपयोग करना (कुमार, 1992) lxi। सार्वजनिक सेवाओं और निजी फर्मों में रोजगार अंग्रेजी भाषा और साहित्य और ब्रिटिश संस्कृति और शिष्टाचार पर कमांड और महारत की शर्त पर बन गया। इस प्रकार, रटने की याद और परीक्षा-आधारित शिक्षा प्रणाली काफी हद तक एक ऐसा साधन बन गई, जिसके तहत ब्रिटिश अधिकारियों के लिए प्रमुख प्रशासनिक पदों को भरने के लिए भारतीय क्लर्कों और निम्न-स्तरीय नौकरशाहों का एक वर्ग तैयार किया गया। इस शैक्षिक दृष्टिकोण का अधिकांश भाग अभी भी व्यवहार में है और आज भी स्कूली शिक्षा की समग्र प्रणाली को आकार देता है। इस अध्याय में, मैंने भारत में चुनिंदा शैक्षिक सुधारों की केवल एक संक्षिप्त समयरेखा प्रस्तुत की है, लेकिन बाद के अध्यायों में ऐसी पहलों के निहितार्थ और स्थायी

परिणामों पर चर्चा की गई है। भारत की शिक्षा प्रणाली को व्यवस्थित करने के लिए कई प्रमुख भारतीय शिक्षक और दार्शनिक आगे आए। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में राजा राम मोहन राय, विनोबा भावे, विवेकानंद और अन्य उल्लेखनीय हैं; हाल ही में, बीसवीं सदी की शुरुआत में महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू, जाकिर हुसैन, रवींद्र नाथ टैगोर, राधाकृष्णन जैसे नेता थे; और बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में, कई अन्य लोगों के अलावा कृष्णमूर्ति, शंकर दयाल शर्मा और प्रेम कृपाल का उल्लेख किया जाना चाहिए। महात्मा गांधी ने विदेशी संस्कृति पर आधारित और विदेशी भाषा में पढ़ाने के लिए मौजूदा शिक्षा प्रणाली की निंदा की। उन्होंने सभी सरकारी स्कूलों और कॉलेजों के बहिष्कार का आह्वान किया और शिक्षा की एक वैकल्पिक प्रणाली को संस्थागत बनाने का प्रयास किया। गांधी की बुनियादी शिक्षा नीति ने व्यावसायिक शिक्षा और भारतीय भाषाओं के उपयोग पर जोर दिया और भारत के संविधान के लिए एक आधार के रूप में कार्य किया। प्रारंभिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण (यूईई) की योजना ने 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए मुफ्त, अनिवार्य शिक्षा प्रदान की। कुछ प्रमुख दार्शनिकों और शिक्षकों ने आदर्श शैक्षणिक संस्थान भी शुरू किए, जैसे कि शांति निकेतन में रवींद्र नाथ टैगोर द्वारा स्थापित विद्यालय; पांडिचेरी में अरबिंदो घोष द्वारा स्थापित शैक्षणिक आश्रम; और ऋषि घाटी में कृष्णमूर्ति द्वारा स्थापित विद्यालय। ये विद्यालय और विश्वविद्यालय आज भी लोकप्रिय हैं। शिक्षा के इस संक्षिप्त विकासात्मक विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत के इतिहास में प्रत्येक चरण में दार्शनिकों और शिक्षकों द्वारा शैक्षिक उद्देश्यों, पाठ्यक्रम और विद्यालयों और शिक्षकों की भूमिका पर प्रचुर लेखन, पहल और सुधार किए गए हैं। मैंने जिन विशिष्ट नामों का उल्लेख किया है, वे उन कई लोगों, संस्थानों और लेखन में से कुछ चुनिंदा हैं, जिन्होंने भारत में शिक्षा को बहुत प्रभावित किया है। पूरे देश के इतिहास में, कई सम्राट और राजनीतिक प्रशासक हुए हैं जिन्होंने

शिक्षा का समर्थन, संरक्षण और संवर्धन किया है; स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के निर्माण पर काम करके शिक्षा को आगे बढ़ाया; शिक्षकों के लिए सार्वजनिक समर्थन, सम्मान और मान्यता को प्रोत्साहित किया; और पूरे देश में यथासंभव स्वदेशी शिक्षा की प्रणाली का विस्तार किया। अब मैं पाठक को भारत में वर्तमान में लागू शैक्षिक प्रणाली की प्रकृति का एक संक्षिप्त अवलोकन प्रदान करता हूँ।